मनोरंजन पुस्तक माला-२४

संपादक

श्यामसुंदरदास, बी० ए०

प्रकाशक

काशी नागरीप्रचारिणी सभा

आत्म-शिक्षण

लेखक

श्यामबिहारी मिश्र, एम० ए०

और

शुकदेवबिहारी मिश्र, बी० ए०

संवत १९८२

लीडर प्रेस, प्रयाग में मुद्रित।

द्वितीय संस्करण] [मूल्य १)

विषय-सूची

विषय

आत्म-शिक्षण

पहला अध्याय

विषय-विभाग

आत्म-शिक्षण से सुंदर चरित्र और स्वभाव प्राप्त होते हैं। सुस्वभाव और चरित्र-प्राप्ति के साधनों का अभ्यास करना ही एक प्रकार से आत्म-शिक्षण कहा जा सकता है। स्वभाव सहज और प्राप्त दो प्रकार का होता है। सभी लोगों को उत्पत्ति से ही कुछ कुछ बातों की ओर प्राकृतिक चित्ताकर्षण होता है। यही उनका सहज स्वभाव है। इसका विशेष ज्ञान आयुर्वेद और धार्मिक विषयों से संबंध रखता है; और यह भी कहा जा सकता है कि इसका पूर्ण-ज्ञान मनुष्य को अद्यावधि प्राप्त नहीं हुआ है। कुछ लोग जन्म से ही बलिष्ठ, कुछ दुर्बल, कुछ कोमल, कुछ क्रूर, कुछ धार्मिक, कुछ दुष्ट-प्रकृति इत्यादि इत्यादि होते हैं। इन बातों के कारण उनके वंश परंपरागत गुण-दोष, सांसारिक अनुभव, उनका समय विशेष दशाओं में व्यतीत होना, पूर्वजन्म के संस्कार आदि अनेकानेक कहे गए हैं; और इन सब बातों का कुछ कुछ प्रभाव पड़ता भी अवश्य है; किंतु वर्त्तमान समय के भारतीय पंडितों के बहुमत का झुकाव

इस ओर है कि सहज और प्राप्त स्वभावों के फल एक दूसरे से ऐसे मिले हुए हैं कि उनका पृथक् करना कठिन है। बहुत लोगों की प्राकृतिक, शारीरिक गठन बलिष्ठ होती है; किंतु फिर भी व्यायाम, नियत आचरणों आदि के अभाव से कभी कभी वे उसको ऐसा शिथिल बना देते हैं कि निर्बल से निर्बल मनुष्य की गठन से भी वह बुरी हो जाती है। ऐसी दशा में सहज स्वभाव, प्राप्त स्वभाव के कारण भ्रष्ट हो जाता है। वही लोहा बेपरवाही से पड़ा रहने से कोयले सा काला और काँच सा टूटनेवाला हो जाता है, किंतु प्रयत्न करने से खड्ग के रूप में आ कर शीशे सा चमकदार और वज्र सा कठोर बन जाता है। अतः सहज और प्राप्त स्वभावों में बड़ा ही घनिष्ठ संबंध है। केवल सहज गुणों से प्रधानता प्राप्त करने में किसी की उतनी महिमा कदापि नहीं होनी चाहिए जितनी कि प्राप्त गुणों से गौरव की उपलब्धि मे है। कम से कम यह प्रकट है कि प्राप्त स्वभाव सहज स्वभाव का एक बहुत बड़ा परिपोषक है। इसलिये हम आत्म-शिक्षण में प्राप्त स्वभाव की ही उन्नति के साधन बतावेंगे।

आत्म-शिक्षण को पंडितों ने तीन प्रधान भागों में विभक्त किया है--अर्थात् दैहिक, धार्मिक और मानसिक।

इन तीनों का वर्णन इस ग्रंथ में यथास्थान मिलेगा, किंतु आपस मे मिले रहने के कारण धार्मिक और मानसिक विषय यहाँ कुछ मिले हुए कहे जायँगे, यद्यपि इनका पृथक्करण भी संभव है। पहले हम मनुष्य जीवन के साफल्य का कथन करेंगे और फिर शारीरिक शिक्षण कहने के लिये स्वास्थ्य का वर्णन होगा। यहाँ तक तीसरा अध्याय समाप्त होता है। अनंतर

तीन अध्यायों में एक एक कर के कुटुंब, मित्रता और संग का कथन किया जायगा। इन तीनों से शिक्षण में बड़ा सहारा मिलता है और जो पुरुष इनके व्यवहारों में दक्ष होगा, वह एक प्रकार से पंडित हो जायगा। इसी लिये आगे के अध्याय में अध्ययन का ही कथन होगा और तब आठवें तथा नवें अध्यायों में स्वतंत्रता एवं कर्तव्य और आज्ञापालन संबंधी शिक्षाएँ दी जायँगी। अनंतर चार अध्यायों में आचार, वीरता, न्याय, दया और क्रोध के वर्णन होंगे और तब अंतिम चौदहवें तथा पंद्रहवें अध्यायों में आत्म-शिक्षण का गौरव स्वरूप सत्य एवं संसार की सारता आवेगी। आत्म-शिक्षण में उपर्युक्त विषयों के अतिरिक्त अनेकानेक ऐसे गहन विषय हैं जिनको पृथक् अध्याय मिलना अनुचित नहीं था; किंतु स्थानाभाव से थोड़े ही में बहुत कुछ कहने का यहाँ प्रयत्न किया गया है। उद्योग, सामाजिक तत्परता, ब्रह्मचर्य्य, व्यभिचाराभाव, मित-व्यय आदि अनेकानेक जिन गहन विषयों को यहाँ स्वतंत्र अध्याय नहीं मिल सके हैं, उनका वर्णन यथास्थान अन्य उचित विषयों के अंतर्गत कर दिया गया है। प्रत्येक मनुष्य धनी, महान् अथवा बुद्धिमान नहीं हो सकता; किंतु सदाचारी हो सकता है और उसे ऐसा होना भी चाहिए। यदि विचार किया जाय तो वास्तविक सुख भी जितना सदाचारी को मिलता है, उतना धनी आदि किसी को नहीं मिलता।

कहते हैं कि जब सिकंदर भारत में आया और अपनी विजय-यात्रा मे निकला, तो एक फकीर उसका कुछ भी सत्कार अथवा सम्मान किए बिना जैसा का तैसा बैठा रहा। सिकं-दर को बड़ा आश्चर्य्य हुआ, यहाँ तक कि उसके पास जाकर

उसने पूछा कि तूने मेरी जरा भी इज्जत क्यों नहीं की? क्या तू अपने को मुझ प्रतापी राजा से भी बड़ा समझता है? उत्तर मिला कि इसमें संदेह ही क्या है, क्योंकि तू यदि राजा है तो मैं महाराजा हूँ। जब पूछा गया कि तेरा राज्य, कोष और सेना कहाँ है। तब उसने उत्तर दिया कि यह सारा संसार मेरा राज्य है और कोष तथा सेना की मुझे इसलिये आवश्यकता नहीं है कि मेरे व्यय और शत्रु हैं ही नहीं। इसी प्रकार कहते हैं कि एक प्रतापी राजा अपने महल में जिस समय रात्रि में निद्रा के अभाव से अपने मोटे कालीन की सेज पर करवटें बदल रहा था, तभी खिड़की के सामने उसने केवल भूमि पर वरन् कंकड़ों की शय्या पर एक फकीर को सोते देखा। प्रात.काल राजा ने भिक्षुक को बुलाकर प्रश्न किया कि,—"बाबा जी! रात कैसी कटी?" उत्तर मिला कि कुछ तेरे समान और कुछ तुझ से अच्छी।

राजा के चकित होने पर महात्मा ने कहा कि सोते में मेरा तेरा सुख समान था; क्योंकि न तुझ को अपनी सुखद सेज का ज्ञान था और न मुझे कंकड़ों की, किंतु जागते मे मैं तुझसे अच्छा रहा, क्योंकि मुझे तो केवल कंकड़ों का कष्ट था, जो अभ्यास के कारण बहुत स्वल्प हो गया है, किंतु तुझे हजारों प्रकार की विकट चिंताएँ अपना शिकार बना रही थीं, जिससे तुझे निद्रा-प्राप्ति तक दुस्तर थी। यदि सोचा जाय तो ये कथन सब अक्षरशः यथार्थ हैं। किंतु अदृढ़-चित्त मनुष्य इनको चमत्कारिक कथन मात्र कहकर भूल जाते हैं। जिन लोगों का स्वभाव उनके आचरणों में प्रकट न हो, समझ लेना चाहिए कि उनका वह स्वभाव ही नहीं है।

स्वभाव की संसार में उचित ही पूजा होती है। किंतु इसके अन्य गुणों से युक्त होकर भी मनुष्य सदैव ज्ञाताओं द्वारा घृणा की दृष्टि से देखा जायगा। संसार में बुद्धि की महत्ता सर्वमान्य है, किंतु पूजा सुस्वभाव ही की होती है। सैकड़ों ऐसे मनुष्य अपनी पार्थिव प्रभुता से महान् समझे जाते हैं कि जिनको कर्मों के विचार से वास्तव में नीचातिनीच समझना चाहिए। यह अवश्य मान्य है कि संसार में पूर्ण पूजन प्रत्येक सुस्वभावयुक्त व्यक्ति का नहीं होता, किंतु ऐसा प्रत्येक व्यक्ति पूज्य है अवश्य। सब को बड़े होने का अवसर प्राप्त नहीं होता, किंतु सदाचारी मनुष्य का, जहाँ तक ज्ञात होता है, वहाँ तक वास्तविक पूजन अवश्य होता है। इसलिये सदाचार पर पूर्ण ध्यान देना उचित है।

दूसरा अध्याय

मनुष्य जीवन का साफल्य

हम यहाँ किन्हीं मत मतांतरों के विचारों का आश्रय न लेकर साधारण बुद्धिग्राह्य सिद्धांतों के अनुसार अपना मत प्रकट करना उचित समझते हैं। हिंदू मतानुसार कभी कोई आकस्मिक घटना नहीं होती, वरन् जिन घटनाओं को संसार आकस्मिक कहता है, वे भी पूर्व जन्मों के कर्म्मानुसार दृढ़ सिद्धांतों पर निर्भर हैं। अतः किसी घटना को आकस्मिक न कहना चाहिए। यह विचार मानते हुए भी हम यहाँ आकस्मिक शब्द का प्रयोग करेंगे। ऐसे स्थानों पर आकस्मिक शब्द से उन घटनाओं का बोध होना चाहिए, जिन्हें संसार ऐसी कहता है। इसी भाँति ईश्वर संबंधी विचारों को मानते हुए भी हम यहाँ उनका सहारा न लेकर साधारण विचारों का आश्रय लेंगे।

कौन जीवन सफल है, इस प्रश्न का निर्णय अनकानेक गहन दार्शनिक सिद्धांतों पर निर्भर है। फिर भी दर्शनशास्त्र के निगूढ़ तत्त्वों पर हम यहाँ साधारण सार्वमान्य विचारों के अनुसार भी अपने भाव प्रकट करेंगे। मनुष्य जीवन में प्रकृति और सभ्यता के दो बड़े भारी मूल कारण हैं। इन्हीं के अनुसार चलने पर उसकी सफलता निर्भर है। जो मनुष्य धार्म्मिक संप्रदाय और समाज, इन दोनों को उचित प्रकार से मिलाकर कार्य्य करता अथवा कराता है, उसी

के द्वारा कर्मों के दृढ़तानुसार मनुष्य जीवन का साफल्य न्यूनाधिक रीति से प्राप्त होता है। उसी मनुष्य का जीवन सफल कहा जा सकता है जो अपने प्राकृतिक एवं सामाजिक बल को क्षीण न करके उसे अधिकाधिक उन्नत करता हुआ उसका उचित प्रयोग करता है।

प्रत्येक मनुष्य इस जन्म में बिना कोई कर्म्म किए ही अपने माता पिता के गुण-कर्म्मानुसार बलिष्ठ अथवा निर्बल एवं अन्य अनेकानेक गुणावगुण-संपन्न शरीर पाता है। फिर अपने जीवन के आरंभ काल में बिना कुछ भी प्रयत्न किए सुसंग अथवा कुसंग पाकर वह असंख्य गुण अथवा अवगुण प्राप्त करता है। इसी भाँति अपने संबंधियों की सांसारिक स्थिति के अनुसार बिना कुछ किए ही उसको भी तदनुसार भली या बुरी स्थिति प्राप्त होती है। कोई किसी बड़े राज्य का उत्तराधिकारी होकर जन्म लेता है और कोई अपने पिता की आर्थिक दरिद्रता के कारण " जानत है चारि फल चारिहो चणक को "। इसी भाँति किसी के शरीर में भीम एवं राममूर्त्ति बनने की संभावना होती है और किसी को पैतृक दमा, क्षय रोगादि के कारण येन केन प्रकारेण शरीर को स्थिर रखना ही कठिन हो जाता है। इन बातों को पूर्वजन्म-संस्कारभव मानिए, अथवा आकस्मिक घटनाएँ, किंतु वास्तविक जीवन साफल्य से इनसे कोई भी सरोकार नहीं है, यद्यपि संसार विचारशून्यता के कारण प्रायः इन्हीं को जीवन साफल्य की सामग्री समझता है। शुद्ध विचारों से उसी का जीवन सफल समझा जायगा, जो आरयदत्त एक पैसा भर गुणों की मात्रा को बढ़ाकर डेढ़ पैसे

भर कर ले, न कि उसका जो एक लाख भाग्यदत्त मात्रा को पचास हज़ार भर ही रख छोड़े। हम बेकमाए हुए गुण अथवा द्रव्य-समुदाय को भाग्यदत्त मानते हैं।

प्रकृति द्वारा अनेकानेक सद्गुण अथवा दुर्गुणसंपन्न शरीर प्रत्येक मनुष्य को मिलता है। हम इसी को भाग्यदत्त शरीर कहते हैं। मनुष्य मात्र का कर्त्तव्य है कि नित्यशः सद्गुणारोपण एवं दुर्गुणदमन द्वारा इस भाग्यदत्त शरीर की उन्नति करता जाय। यह प्रायः देखने में आया है कि जिनका भाग्यदत्त शरीर प्रबल है, वे उसके प्राबल्य पर भरोसा करके उसकी उन्नति की ओर तादृश ध्यान नहीं देते, जिससे क्षीण होते होते समय पर शतंजीवी होने के स्थान पर वे साठ सत्तर वर्षों मे घिस जाते हैं, और प्रत्येक समय में पूर्ण बल प्रयोग के कामों को करने मे असमर्थ रहकर बलहीनता, रोग एवं अन्य दुर्गुणों का शिकार बने रहते हैं। ऐसी दशा में बरबस कहना पड़ेगा कि उन भाग्यवान पुरुषों ने प्रकृति-दत्त थाती का दुरुपयोग करके अपने जीवन-साफल्य का ह्रास किया। उधर भाग्यदत्त दुर्बल शरीरवाले महाशय आहार, विहारादि संबंधी नियमों पर पूर्ण ध्यान देकर प्रायः प्रकृतिदत्त थाती को उन्नति प्रदान करते हुए देखे गए हैं। ऐसे लोग यद्यपि भाग्यदत्त बली शरीरवाले से निर्बल भी हों किंतु दार्शनिक दृष्टि से फिर भी उनका शारीरिक जीवन सफल समझा जायगा। जो लोग प्राकृतिक नियमों पर उचित प्रकार से न चलकर अपनी शारीरिक दशा का ह्रास करते हुए भाग्य-दत्त गुणों की अवहेलना करते हैं, वे धीरे धीरे आत्महत्या करने के दोषी होते हैं। बहुतों का विचार है कि हम अपने

शरीर के मालिक हैं, इससे उसका मनमाना उपयोग कर सकते हैं। यह विचार सब प्रकार से तिरस्करणीय है। प्रत्येक शरीरी के लिये भाग्यदत्त शरीर एक थाती है। जितना बल और जितनी कार्यदक्षता के योग्य उसे प्रकृति ने बनाया है, उसे बनाए न रखना मानों प्रकृति को धोखा देना है।

प्रति मनुष्य के कर्त्तव्य सभ्यता एवं प्रकृति संबंधी नियमों के अनुसार होने चाहिए और इन्हीं को पालन करते हुए उसे अपने शरीर द्वारा अधिक से अधिक भलाई करनी उचित है। प्रकृति संबंधी कर्त्तव्यों का वर्णन सूक्ष्म रीति से ऊपर किया जा चुका है। शरीर को स्वस्थ रखकर कार्य्यकुशल बनाना प्राकृतिक नियमों का मुख्य अंग है। इसके अतिरिक्त मानसिक भाव भी प्राकृतिक नियमों के समान ही हो गए हैं, यद्यपि इन दोनों का अंतर ध्यान में रखने से मनुष्य बहुत सी बुराइयों से बच सकता है। यह अंतर यहाँ पर हम एक उदाहरण द्वारा दिखलाते हैं। साधारण शरीर के लिये यदि समुचित वस्त्र, भोजन और व्यायाम प्राप्त हों, तो उसे आपत्योत्पादिनी वासनाओं की समुचित संतुष्टि के अतिरिक्त और कुछ नहीं चाहिए। उसे इसकी कुछ परवाह नहीं है कि रूई भरे खासे के कपड़े से शीत निवारण होता है, अथवा मखमल या जामेवार से। इसी भाँति अच्छे से अच्छे पोलो, फुटबाल आदि से प्राप्त व्यायाम को वह निर्जन स्थान में भी दौड़ने से प्राप्त व्यायाम से श्रेष्ठ तर नहीं समझता। यही दशा भोजन की है। फिर मानसिक भाव इन स्वाभाविक सुविधाओं के अतिरिक्त अनेकानेक अन्य पदार्थ माँगता है, और ज्यों ज्यों थोड़ी वासनाएँ शांत

होती जाती हैं, त्यों त्यों अन्यान्य विस्तृत मनोभाव जाग्रत हो होकर शरीर को चैन नहीं लेने देते। इसी से कहा है कि "पार लोभसागर को नाहीं। भ्रमत सबै माया भ्रम माहीं"।

यह मानसिक भाव प्राकृतिक शरीर को सदैव घेरे रहता है और उसे अनेकानेक दुःख एवं सुख पहुँचाता है। इसी लिये धार्मिक पुरुषों ने मानसिक चांचल्य का हनन मनुष्य के लिये परमावश्यक बतलाया है। संसारत्यागी मनुष्यों के लिये यही उचित है भी, किंतु संसार के लिये यह एक प्रकार से आवश्यक भी है; क्योंकि बिना इसके पूर्ण उन्नति एवं सभ्यता स्थापित नहीं हो सकती। परोपकार के लिये मनुष्य को उतना ही परिश्रम करना उचित है जितना कि अपने लिये, किंतु मनुष्य का स्वभाव ही ऐसा बलहीन है कि १०० में ९९ लोग परोपकारार्थ उतना परिश्रम कभी न करेंगे जितना कि अपने लिये। इसी लिये मानसिक चांचल्य द्वारा मनुष्य और संसार दोनों की अच्छी उन्नति होती है और यहाँ तक यह श्लाघ्य भी है। किंतु यह मानसिक चांचल्य यहीं तक नहीं ठहरता, वरन् बहुधा मृगतृष्णा सा बनकर शरीर को भाँति भाँति के क्लेश पहुँचाता है। इसी लिये संसार में शिक्षकों और उपदेशकों की भी आवश्यकता है, कि इसकी उचित सीमाओं को सदा सम्मुख रख कर लोगों के अनुचित क्लेश दूर करें। प्रत्येक मनुष्य को पूर्णोन्नति के लिये सदैव यत्नवान रहना चाहिए; तथापि यह भी स्मरण रहे कि पूर्णोन्नति एक लक्ष्य मात्र है, वह उपलब्ध कभी नहीं हो सकती। जब तक मनुष्य को उचित व्यायाम का समय मिलता है, जब तक वह वस्त्राभाव से शीत नहीं खाता और अन्नाभाव से भूखा

नहीं रह जाता है, तब तक अधिकाधिक उन्नति के लिये वह यत्नशील भले ही रहे, किंतु विफल-मनोरथ होने तथा हानि उठाने में उसे दुःखित कभी न होना चाहिए। जब तक उसके पास प्राकृतिक अभाव नहीं है, तब तक मानसिक अभाव से उसे इतना ही समझना चाहिए कि मुझे मन बालक के खेलाने के लिये अमुक खेलौना अप्राप्य है। जैसे बालक जब चाँद के लिये रोने लगता है, तब उसे दूसरे पदार्थों में भटकाते हैं, इसी भाँति इस हठी बालक, मन, को भी अन्य बातों से संतुष्ट करने का प्रयत्न करना चाहिए। देह में मन बालक और बुद्धि युवा के समान है। यह बालक सहस्रों प्राप्य एवं अप्राप्य पदार्थों के लिये हठ किया करता है। युवा बुद्धि का कर्त्तव्य है कि प्राप्य पदार्थों से इसका तोष करे और जब यह अप्राप्य वस्तुओं की ओर दौड़े, तब युक्ति से इसे क्लेश दिए बिना ही प्राप्य पदार्थों की ओर ले जाय। जिसके मन बालक ने युवा बुद्धि को जीत लिया है, वह चाहे बड़ा भारी महात्मा, राजा आदि कोई भी हो, तथापि उसका मनुष्य जीवन सफल नहीं है। कहा जा सकता है कि १०० में ९९ लोगों के लिये ये विचार अप्राप्य लक्ष्य मात्र हो सकते हैं, तथापि उपदेशकों से यदि अप्राप्य लक्ष्य छीन लिए जायँ तो उनका सब काम चौपट हो जाय। इस संसार ने अद्यावधि लक्ष्यों ही के सहारे उन्नति की है और भविष्य में भी करेगा।

मन बालक के सब से बड़े हठ स्वार्थ संबंधी होते हैं। इनमे भी संतान, कलत्र, पति, अन्य कुटुंबी, मित्रादि के भाव स्वार्थ से बढ़कर समय पर ऐसे प्रबल हो जाते हैं कि इनके अकाल वियोग से कभी कभी शरीर तक नष्ट हो जाता

है। अतः यह स्वार्थ आदि में स्वार्थ होने पर भी समय पर उससे कुछ पृथक् हो जाता है। अपने प्रीति-भोजन लोगों को अपने से भी अधिक मानना सभ्यता की बहुत बड़ी सामग्री है और उसके बचाने के लिये उचित प्रकार से शरीर का न्योछावर तक कर देना सब प्रकार से प्रशंसनीय है। फिर भी अनावश्यक प्रकार से थोड़ा भी क्लेश मन में लाना सदैव मानसिक दुर्बलता के नाम से पुकारा जायगा। अपने प्रिय मनुष्य की सहायता, चिकित्सादि करने में चाहे जितना कष्ट अथवा धन-व्यय सहन किया जाय, किंतु उनके मरणांतर थोड़ा भी दुःख करने से मन-बालक-वाली उपर्युक्त कहावत चरितार्थ हो जाती है। जब तक शरीर प्राकृतिक रीतियों से सबल है, तब तक मनश्चांचल्य के हठ से उसे दुर्बल बनाना भाग्यदत्त शरीर की कर्म्मों द्वारा अवहेलना करना है। भारी से भारी विपत्ति पड़ने पर भी युवा बुद्धि का शिथिलीकरण घोर अन्याय एवं पातक है। हमारे विचार में अपने शरीर की अनुचित हानि वैसी ही गर्हित एवं पापपूर्ण है, जैसा कि किसी अन्य शरीर को हानि पहुँचाना, क्योंकि उस शरीरी द्वारा एक शरीर को हानि पहुँची। कर्ण पर्व में भगवान् श्रीकृष्णचंद्र ने अर्जुन से कहा भी है—"पार्थ आत्मवधं भ्रातृवधं तुल्य पाप को भौन।" अपने अदृढ़ चित्त से अपने ही शरीर को हानि पहुँचाने अथवा मरने देने से उतना ही पातक होता है, जितना कि छुरा लेकर उसे काटने से, क्योंकि इन दोनों दशाओं में शरीरी को नरवध का पातक लगता है।

यहाँ तक भाग्यदत्त शरीर एवं प्राकृतिक शरीर का वर्णन

मुख्यता से रहा, और तत्संबंधी नियमों पर विचार हुआ। अब हम सभ्यता संबंधी नियमों की ओर अपने प्रिय पाठकों का ध्यान आकर्षित करते हैं। प्रकृति अपने ही शरीर को पाल्य मानती है, किंतु सभ्यता अन्य शरीरों की ओर भी वैसा ही विचार श्रेयस्कर समझती है, यहाँ तक कि अत्युच्च सभ्यता अन्य शरीरों को अपने शरीर से श्रेष्ठतर मानती है। जिस मनुष्य द्वारा सभ्यता विषयक जितने नियमों का परिपोषण होता है, वह उतना ही परोपकारी एवं सुकर्म्मी समझा जायगा। संसार में परोपकार संबंधी इतने कार्य्य हैं कि बिना नियम स्थिर किए एक मनुष्य की शक्ति अनेकानेक कर्त्तव्यों में फैल कर उनमें से प्रत्येक के लिये इतनी लघु हो जायगी, कि उसका होना न होना बराबर हो जायगा। इसी लिये प्रवीण पुरुषों ने आज्ञा दी है कि प्रत्येक मनुष्य को एक एक जीवनोद्देश्य स्थिर कर लेना चाहिए। यह लक्ष्य अपने सामर्थ्य एवं परोपकारिणी वाञ्छा के दृढतानुसार होगा, किंतु प्रत्येक विचारवान व्यक्ति को कोई न कोई लक्ष्य रखना अवश्य चाहिए।

संसार में मनुष्य को धनप्राप्ति, श्रम, प्रतिग्रह और चोरी से होती है। इन शब्दों के परम विस्तृत अर्थ लेने से यह कथन यथार्थ समझ पड़ेगा अन्यथा नहीं। दाय में धनप्राप्ति भी एक प्रकार का दान लेना कहा जा सकता है। इसी भाँति स्वामी की इच्छा के प्रतिकूल उचित श्रम छोड़ अन्य किसी भी रीति से धनापहरण चौर कर्म्म है, यह सभी धर्म्मोपदेशकों ने कहा है। महात्मा मनु और हज़रत मूसा, इन दोनों ने अपने अपने अनुयायियों के लिये दस दस आज्ञाएँ छोड़ी हैं। इन दोनों महात्माओं ने चोरी का उचित

ही बुरा बतलाया है। यथा—

"धृतिक्षमादमोऽस्तेयं शौचमिन्द्रियनिग्रहः।
धीर्विद्या सत्यमक्रोधो दशकं धर्म्मलक्षणम्॥" —मनु०

"तू चोरी मत कर"—मूसा।

चौर कर्म्म अनेक प्रकार से जानते और न जानते हुए भी हो सकता है। दर्शनशास्त्रज्ञों ने सभ्य संसार के शिक्षार्थ उचित कर्म्मसमुदाय का निचोड़ स्वतंत्रता, समता, भ्रातृत्व (Liberty, Epuality, Fraternity) नामक तीन शब्दों में कहा है। इन्हीं पर पूर्ण रूप से विचार करने से मनुष्य चौर कर्म्म से बच सकता है। संसार में स्वतंत्रता के लिये सब का स्वभाविक अधिकार है, किंतु केवल स्वतंत्रता का अनुयायी होने से मनुष्य क्रूर एवं अन्यायी हो सकता है। इसी लिये दार्शनिकों ने समता सिद्धांत का वर्णन किया है। अतः यदि तुम्हारी स्वतंत्रता ऐसी है जिससे किसी दूसरे की स्वतंत्रता में बाधा पड़ती है, तो वह चौरकर्म्म से खाली नहीं है, क्योंकि अपनी स्वतंत्रता रक्षित रखने को तुम उसकी स्वतंत्रता चुरा रहे हो। समता सिद्धांत से इस चोरी का बहिष्कार हो जाता है। इस पर भी स्वतंत्रता और समता रखनेवाला मनुष्य स्वत्वरक्षण मे क्रूर हो सकता है। इसी लिये सुधी पुरुषों ने इनमे भ्रातृत्व भाव जोड़ा है। अतः सभ्यता के नियमों का वह अनुयायी श्लाघ्य कहा जायगा जो चोरी से बचता हुआ उपर्युक्त तीनों सिद्धांतों पर अनुगमन करे।

प्रतिग्रह से प्राप्त धन संसार के देखते हुए निंद्य नहीं कहा जा सकता, किंतु उत्तम श्रेणी का भी वह नहीं है। इस अंतिम श्रेणी में परिश्रम द्वारा प्राप्त धन की ही गणना हो

सकती है। आचरणोन्नति के लिये भी ऐसा ही धन विशेषयता सहायक है। बहुधा देखा गया है कि परिश्रम बिना प्राप्त धन से धनी मनुष्य आचरण में परिश्रमी पुरुष के बराबर नहीं होते। इसलिये ऐसे धनिकों को सदैव ध्यान रखना चाहिए कि स्वभावशः उनका धन उनके जीवन साफल्य का बाधक है, और इसलिये उन्हें इस साफल्य की प्राप्ति के हेतु विशेषतया श्रमशील रहना चाहिए।

संसार में प्रायः देखा गया है कि आकस्मिक घटनाएँ सर्व साधारण की दृष्टि में एक मनुष्य के श्रम अथवा कभी कभी श्रमहीनता को भी साफल्य के परमोच्च शिखर पर चढ़ा देती हैं। इन बातों से देखने को तो सफलता प्राप्त होती है, किंतु वास्तव में नहीं। वास्तव में उसी का जीवन सफल एवं धन्य है जो अपने भाग्यदत्त शरीर की उचित प्रकार से उन्नति करता हुआ अपने कर्मों से दूसरे सत्पुरुषों को अधिक से अधिक वास्तविक आह्लाद प्रदान करे।

तीसरा अध्याय

स्वास्थ्य

ऊपर दिखलाया जा चुका है कि मनुष्य के लिये स्वास्थ्य-रक्षण एक बड़ा धर्म है और इसकी ओर से उदासीनता भारी पातक है। इसलिये आत्म-शिक्षण के तीन मुख्य विभागों में से हम इसी का वर्णन पहले करते हैं। स्वास्थ्य रक्षण के लिये पाँच बातों पर ध्यान देना परमावश्यक है, अर्थात् गृह, वस्त्र, भोजन, व्यायाम तथा रहाइश, इन सब का विचार हम पृथक पृथक् करते हैं।

मकान

गृह ऐसा होना चाहिए कि जिसमें रहने से मनुष्य पर किसी प्रकार का रोग अधिकार न करने पावे। प्रत्येक मनुष्य के लिये बस्ती से दूर गृह का बनाना कई प्रकार से कष्टप्रद होगा, किंतु स्वास्थ्य के लिये यही गुणकारी है। अतः यथा-साध्य बस्ती से कुछ हटकर निवास-स्थान का निर्माण श्रेय-स्कर है। कम से कम वह घनी बस्ती अथवा दुर्गंधियुक्त पदार्थों के निकट न हो। नीची भूमि में पानी भरने से भाँति भाँति के रोगकारक कृमि आदि उत्पन्न होते हैं। इसी प्रकार मलिन जलपूर्ण गड्ढों आदि का स्वास्थ्य पर बड़ा ही हानिका-रक प्रभाव होता है। ऐसे स्थानों पर निकेत की स्थिति अनु-चत है। यदि बहते हुए जल, समुद्र, वन, पहाड़ आदि के

निकट भवन की स्थिति हो सके तो बहुत ही अच्छा है। पहाड के ऊपर गृह और भी गुणकारी होगा। सदन के निमित्त ऊँची पृथ्वी भी श्रेयस्कर है।

मकान के दरवाज़े, खिड़की, झरोखे आदि ऐसे होने चाहिएँ कि शुद्ध वायु का प्रवेश उसमें भली भाँति हो सके। जिधर से स्वच्छ हवा आने की आशा हो, उस ओर खिडकी, झरोखे आदि बहुतायत से होने चाहिएँ। आलय के कमरे ऐसे होने चाहिएँ कि उनमे यथासाध्य हवा और रोशनी का बहु· तायत से प्रवेश हो सके। दरवाज़े खिड़की यथासाध्य एक दूसरे के सामने अंत की दीवार पर्य्यंत एक सीध में होने चाहिएँ। इस से लाभ यह होता है कि हवा सब कमरों में वे रोक टोक चली जाती है, जिससे उनकी गंदगी दूर हो जाती है। कोई भी ऋतु क्यों न हो, किंतु प्रति दिन प्रातःकाल दो घंटे के लिये घर के सब दरवाज़े और खिड़कियाँ खोल देनी चाहिएँ, जिससे रात की खराब हवा निकल कर प्रत्येक स्थान में ताज़ी हवा भर जाय।

कमरे यथासाध्य ऊँचे और हवादार होने चाहिएँ। मकान की फ़र्श, छत, दीवारें आदि यथासाध्य पक्की हों और किसी स्थान में पानी भरे रहने का कुचक्र न हो। पाखाना, पेशाबघर, नाली आदि पर विशेष ध्यान रहे। ये हवादार और साफ़ हों तथा कम से कम प्रति सप्ताह एक बार फेनाईल से धोई जायं। जो लोग इतना व्यय न उठा सकें वे स्वच्छ जल से ही उन्हें धुला दें। जाजरूर, पेशाबघर आदि के फर्शों पर बहुत ध्यान रखना चाहिए। इनका पका

होना परमावश्यक है। यथासाध्य भवन के चारों ओर अथवा कम से कम आगे पीछे कुछ भूमि अवश्य छोड़ी जाय जिसमें पतली कटी हुई घास उगी रहे। यह बात वायु संशोधन में बड़ा सहारा पहुंचाती है। भवन के निकट बहुत वृक्षों का होना अनुचित है, किंतु थोड़े वृक्ष और पौधे सदैव लाभकारी होते हैं। रसोई घर बहुतही साफ़ होना चाहिए। उसके निकट पानी भरने का कोई ऐसा स्थान न हो कि जिसमें उत्पन्न हुए कृमि भोज्य पदार्थों में मिलकर मनुष्य में रोग उत्पन्न करे। सारे घर को बुहारी आदि द्वारा नित्य साफ़ करना चाहिए और साल में दो बार उसमें रक्खे हुए सब पदार्थों को स्थानांतरित करके उसका पोतवाना भी आवश्यक है। यदि चूना अप्राप्य हो, तो चाहे जलही का व्यवहार करे, किंतु सब भीतों और छतों का साल मे दो बार धुलना परमावश्यक है। यथासाध्य मकान में कुछ दो मंज़िले कमरे अवश्य हों; किंतु ऐसा दुमज़िला भी न हो जिससे आँगन कुआँ सा हो जाय और वायु एवं सूर्य्यकिरणों की रुकावट हो। सोने का कमरा अवश्यमेव हवादार हो और यथासाध्य ऊँचा तथा कुछ लंबा चोड़ा हो। उसमें संदूक आदि बहुत से पदार्थ न रक्खे हों। यथासाध्य चारपाई के अतिरिक्त उसमें बहुत थोड़े से आवश्यक पदार्थ हों। रात में वह बिलकुल अँधेरा न रक्खा जाय और प्रकाश भी तीव्र न हो। थोड़ा सा प्रकाश देनेवाली मोमबत्ती अथवा देशी तेल का दीया जलाना उचित है। शयनागार में मिट्टी का तेल भूलकर भी न जलने पावे। एक ही शयनागार में सदैव न लेटना चाहिए, वरन् पंद्रह बीस दिन में उसे अवश्य बदल देना चाहिए। जिस कोठरी में भोज्य वस्तु

तथा धान्यादि का संग्रह हो, वह ऐसी होनी चाहिए कि उसमें चूहे इत्यादि प्रवेश न कर सकें। यदि हो सके तो उसकी फ़र्श खूब पक्का बनवावे और दीवारों में मोटे लोहे के भारी छल्ले लगवाकर उन्हीं मे लोहे, ताँबे, पीतल आदि के बर्तन लटका दे और उन्हीं में सब पदार्थ रक्खे। पृथ्वी पर कोई खाद्य पदार्थ न संचित किया जाय। प्रत्येक बर्त्तन का ढक्कन उसके मुंहगड़ में भली भाँति सटा होना चाहिए। इतने पर भी उस कमरे में बुहारी आदि का प्रबंध अच्छा रहे। मक्खन मुरब्बा आदि के लिये चारों ओर से जालीदार अलमारी का होना उचित है, जो पृथ्वी पर न रक्खा जाकर छत से टँगी रहे।

वस्त्र

हमारे यहाँ गर्मी और जाड़े के लिये पृथक् पृथक् वस्त्र-रहते हैं। जाड़े में ऐसे कपड़े पहने कि जिससे कष्टप्रद शीत का निवारण हो जाय, किंतु जो ऐसे मोटे या इतने गरम न हों कि मनुष्य को पसीना आ जाय या बिल्कुल जाड़ा न लगे। कपड़ा ऐसा होना चाहिए कि जिससे कुछ हलका सा जाड़ा मालूम पड़ता रहे। दो चार बहुमूल्य वस्त्रों से बहुत से घटिया मेल-वाले कपड़े स्वास्थ्य के विचार से श्रेष्ठतर हैं। यथासाध्य एक वस्त्र एक ही दिन वरन् एक ही बार पहने। दूसरी बार पह-नने के पूर्व उसे अवश्य धुला डाले। यदि आर्थिक दशा के कारण ऐसा संभव न हो, तो प्रति सप्ताह तीन या दो कुरते और पायजामे बदले। इनके ऊपर पहननेवाले वस्त्र भी सप्ताह

में एक या दो बार अवश्य बदल डाले। जो वस्त्र धुलाना न चाहे, उसे किसी अन्य वस्त्र के ऊपर पहने, खुले शरीर पर कभी नहीं। बहुत महीन वस्त्र मोटे वस्त्रों की अपेक्षा कुछ कम लाभदायक होते हैं। स्वदेपूर्ण शरीर को खुली हवा में वस्त्रहीन एकाएक न करे। सारांश यह है कि स्वास्थ्य के विचार से वस्त्रों की उत्तमता पर उतना ध्यान न देना चाहिए जितना कि उनकी सफाई पर। गर्मी में भी शरीर को प्रायः किसी न किसी वस्त्र से ढके रहना उचित है।

कपड़ा बहुत तंग न पहनना चाहिए। कहा गया है कि सिर को ठंढा और पैरों को गरम रक्खो। इसलिये मोजे आदि का पहनना अच्छा है। सिर पर अँग्रेजी टोपी अथवा बड़ी लट्टूदार पगड़ी धारण करे, जिससे सूर्य्यकिरणों द्वारा नेत्रों को क्लेश न हो। सिर के लिये वह पहनावा अच्छा है जिसमें नेत्रों के निकट कोई हरा वस्त्र रहे, क्योंकि यह ज्योतिरक्षक है। छत के नीचे टोपी अथवा पगड़ी का उतार देना श्रेयस्कर है कि जिससे सिर ठंढा रहे। रजाई से कम्मल श्रेष्ठतर है; क्योंकि उसमें स्वल्प छिद्रों द्वारा वायु का प्रवेश होता रहता है।

भोजन

पंडितों का कथन है कि "खाने के लिये न जियो. वरन् जीने के लिये खाओ"। यही कथन भोजन संबंधी विचारों का मूल सूत्र समझना चाहिए। भोजन नियमबद्ध, साधारण और निर्मादक होना चाहिए। यह नहीं उचित है कि एक

दिन दस बजे भोजन हो और दूसरे दिन दो बजे। वैद्यों ने कहा है कि " याम मध्ये न भोक्तव्यम् यामयुग्मन्नलंघयेत् " अर्थात् सूर्य्योदय से एक पहर भीतर भोजन न करे और दूसरे पहर के भीतर अवश्य कर लेवे। साधारणतया भोजन ऐसे समय में करना चाहिए कि जिसमे सायंकाल से घंटा दो घंटा पूर्व ही वह पच जाय। जब मनुष्य को तीसरे पहर या चार पाँच बजे अच्छी भूख लगे, तभी समझना चाहिए कि उसका प्रातःकालिक भोजन का समय एवं भोज्य पदार्थ उचित था। सायंकालिक भोजन ऐसे समय पर होना चाहिए कि जिसके तीन घंटे पीछे तक मनुष्य निद्रावश न हो। स्यात् इसी विचार से जैन धर्म्मावलंबियों ने दिन ही में भोजन कर लेना उचित माना हो। इस नियम से कुछ असुविधा अवश्य है; किंतु आयुर्वेद की यही आज्ञा है, इसलिये शिरोधार्य्य है। व्यायाम के पीछे तुरंत भोजन करना अनुचित है। इसी प्रकार सायंकालिक भोजन के आध घंटे पूर्व से पुस्तकाध्ययन बंद कर देना चाहिए और भोजन करके शत पद चलना भी उचित है।

भगवान् पतंजलि की आज्ञा है कि पूरे भोज्य स्थान (उदर) में से आधा भोजन से, चौथाई पानी से और शेष हवा से भरे। अनुभव भी हमें सिखलाता है कि संसार में भूख से उतने रोग नहीं होते, जितने को बहु-भोजन से। जहाँ तक हो भोजन की विशेषता को बचाए ही रहना बुद्धिमान का काम है। भोजन कैसा होना चाहिए, इस प्रश्न पर संसार की विविध जातियों में कुछ मतभेद है। धर्म्म संबंधी अनेकानेक

नियम तथा उपनियम एक प्रकार से इसी प्रश्न के उत्तर हैं। सांसारिक जीवों के दाँतों की बनावट से अनेक तत्त्वज्ञों ने उनके योग्य भोजनों का वर्णन किया है। दार्शनिक शुद्धता भी इन्हीं कथनों में विशेष ज्ञात होती है। भारत में मांसाशन पर बड़ा भारी मतभेद रहा है, किंतु मानुषीय अनुभव इस मतभेद को कुछ उपहासास्पद कर देता है। हम देखते हैं कि बल एवं आयुदीर्घता में मांसाहारी जातियाँ मांस न खानेवाली जातियों से किसी प्रकार बढ़कर नही हैं। जो लोग मांस विशेषतया खायँ,इनके लिये दाल और दूध परमावश्यक नहीं है। कितु अमांसभक्षी लोगों के लिये द्विदल परमावश्यक है; क्योंकि दाल में भी मांस से कुछ ही कम नाइट्रोजन का भाग है जो मांसतंतु बनने के लिये परमावश्यक है। बहु भोजन पचाने के लिये मनुष्य को महीने में दो दिन उपवास भी करना चाहिए। उपवास से यह प्रयोजन नहीं है कि एकादशी व्रत की भाँति अन्न तो न खाय किंतु उससे ड्योढ़े फलाहार को चक्खे। यथासाध्य छत्तीस घंटे के लिये पाचनेंद्रिय को पंद्रहवें दिन विराम दे देना अच्छा है। यदि ऐसा करने में दूसरे दिन मलोत्सर्ग में कुछ कष्ट हो तो कुछ दुग्ध एवं एकाध साधारण फल पर संतोष करे। कुल मिलाकर साधारण से चतुर्थांश ही भोजन करे और यथासाध्य द्रव पदार्थ ही पान करे। जिस देश में मनुष्य उत्पन्न हुआ हो एवं जहाँ रहता हो, वहाँ के साधारण फल आदि उसे लाभकर होंगे, क्योंकि प्रकृति ने उन्हें उसी के लिये बनाया है। प्रत्येक मनुष्य के लिये उसकी प्रकृति के अनुसार अनेकानेक पदार्थ हानिकर एवं लाभकर होते हैं। उसको

अपनी रुचि को प्रधानता न देकर लाभ ही की ओर ध्यान देना चाहिए; नहीं तो खाने के लिये जीने की कहावत चरितार्थ हो जायगी।

रसोईघर, पाचनविधि एवं भोजन-स्थान पर सदैव ध्यान रखना चाहिए। हमारे एक मुसलमान मित्र कहते थे कि मुसलमानी खाना हिंदुओं की भाँति स्वच्छ सुथरा बनाकर अंग्रेजों की तरह उसे भोजन करे। वे हिंदुओं की भोजन बनाने की रीति पसंद करते थे तथा अंग्रेजों की खाने की। इसमें संदेह नहीं कि हिंदू भोजन बहुत सफाई से बनाते हैं, अंग्रेजो की खाने की विधि बड़ी समुज्जवल है तथा मुसलमानी भोजन बड़ा सुस्वादु होता है। फिर भी मुसलमानी भोजन पचने में बहुत कड़ा होता है और अंग्रेजी खाना स्वाद में भद्दा होता है; इसलिये अँग्रेजी भोजन को कुछ हिंदुस्तानी स्वाद देकर बनाने में उपरोक्त कथन चरितार्थ हो सकता है। स्वास्थ्य के लिये यह अवश्य ध्यान में रखना चाहिए कि भोजन शरीर यात्रा का साधनमात्र है न कि स्वयं कोई लक्ष्य। जो लोग स्वाद का लालच छोड़कर केवल जीने के लिये खाते हैं, वे वास्तव में सुधर्म्म पालन करते हैं।

भोजन की विधि यह है कि इसमें उच्छृंखलता तनिक भी न हो; अर्थात् नियत समय पर सदैव भोजन किया जाय। यदि थोड़ा थोड़ा भोजन कई बार किया जाय तो अच्छा हो, किंतु उसमें दृढ़ता आवश्यक है, यह नहीं कि किसी दिन चार बार खाय और किसी दिन दो ही बार। नियत समय के अतिरिक्त यथासाध्य कुछ भी न खाय। भोजन करने के समय जलपान बहुत कम करना चाहिए। प्रत्येक ग्रास को

कम से कम बत्तिस बार चुघला कर खाय और खाने में शीघ्रता कभी न करे। नमकीन पदार्थों से भोजनारंभ करे और मीठे से भोजनांत। कहा भी है कि "मधुरेण समापयेत्"। फल सब पदार्थों के अंत में खाना चाहिए। यथासाध्य नित्य कोई न कोई फल अवश्य खाना चाहिए। मौसिमी फलों पर सबको ध्यान देना उचित है। भोजन इस प्रकार करना चाहिए कि चूर्ण आदि की आवश्यकता न पड़े। मादक पदार्थों का सेवन हर प्रकार से हानिकारक एवं तिरस्करणीय है। भोजन में वैविध्य का होना परमावश्यक है। नित्य प्रति एक ही प्रकार का भोजन पूर्ण लाभ नहीं पहुँचाता।

व्यायाम

व्यायाम प्रत्येक मनुष्य के लिये परमावश्यक है। योगी लोग योग की क्रियाओं द्वारा इस का भी साधन करते थे। अच्छी पाचन-शक्ति शरीर को स्थिर, बलवान एवं रोगमुक्त रखने के लिये भोजन से भी अधिक आवश्यक है। बिना व्यायाम के पाचन-शक्ति ठीक रहती ही नहीं। इसलिये व्यायाम शरीर यात्रा के लिये न केवल आवश्यक, वरन् अनिवार्य्य है। व्यायाम के लिये ताज़ी हवा भी गुणद है। प्राचीन काल से अद्यावधि अनेक प्रकार के व्यायाम संसार में प्रचलित हुए हैं और हैं। चलना, दौड़ना, कूद फाँद, मछली पकड़ना, तैरना, घोड़े पर चढ़ना, डँड, मुगदर, बैठक, गोल्फ, नाव चलाना, डंबल, टेनिस, क्रिकेट, पोलो, फुटबाल आदि अनेकानेक प्रकार के व्यायाम हैं। व्यायाय के लिये उसका सदैव

स्थिर समय पर होना आवश्यक है। "अहरे कहरे डंडे करै, देव न मारै आपुइ मरै।" अर्थात् व्यायाम में नियम भंग करना एक प्रकार का आत्मघात है। फिर भी देखा गया है कि नित्य व्यायाम करनेवाले बहुत कम हैं और नैमित्तिक अधिक। कहते हैं कि जीवन भर में किसी न किसी समय प्रत्येक मनुष्य को अपनी देह बनाने का शौक अवश्य होता है; किंतु जिनका चित्त समुद्र तरंगों की भाँति चंचल होता है, उन्हें इस उत्साह से कोई विशेष लाभ नहीं होता। मनुष्य जीवन के लिये मानसिक दृढ़ता एक बड़ा ही आवश्यक गुण है। जिसके विचार अदृढ़ और डावाँडोल होते हैं, उसका सारा जीवन वैसा ही निंद्य और लक्ष्यहीन रहता है। देह शुद्धीकरण की इच्छा को पत्थर की भाँति दृढ़ रखना चाहिए और नित्य बिना विघ्न उसका साधन उचित समय के लिये अवश्य होना उचित है। खाना, सोना, आदि जैसे आवश्यक हैं। वैसे व्यायाम भी है, जो लोग इसका दृढ़तापूर्वक साधन करते हैं, वे आकस्मिक घटनाओं के अभाव में शतंजीवी हो कर तथा नीरोग रहकर पूर्ण सांसारिक सुख का भोग करते हैं।

व्यायाम कैसा होना चाहिए, इसके विषय में विशेष मत-भेद नहीं है, किंतु आचरण भेद बहुत है। सब से अच्छा व्यायाम वह समझा जायगा जिससे शुद्ध वायु प्रचुरता से मिले, शरीर सबल हो और कुतूहल भी खूब प्राप्त हो। मनुष्य जीवन के लिये वैविध्य एक आवश्यक पदार्थ है और आनिवृत्त्य (एकांगीपन monotony) इसको बड़ी हानि पहुँचाता

है। इसलिये व्यायाम में भी विविध प्रकार के कुतूहलों की ओर रुचि रखना जीवन पूर्णता (fullness of life) का सहायक है। मनुष्य को सभी अच्छी बातों की ओर थोड़ी बहुत रुचि रखनी चाहिए। जो लोग एक ही लीक पर अनुगमन करते हैं, उनका जीवन शुष्क, नीरस एवं तिरस्करणीय हो जाता है।

देशी कसरतों में बैठक और मुद्गर कुछ अच्छे हैं। डँड़ में रुधिर प्रवाह का ठेला शिर की ओर विशेषता से होता है जिससे बुद्धिह्रास का खटका रहता है और मस्तिष्क साफ़ नहीं रहता। कहा गया है कि साधारणतया चलना श्रेष्ठतम व्यायाम है। साधारणतया स्वस्थ पुरुष को तीन घंटे नित्य प्रति मैदान में रहना चाहिए। प्रति घंटा तीन मील से कम चलना पूरा लाभ नहीं पहुँचाता। इस प्रकार प्रति दिन नौ मील चलने के बराबर व्यायाम प्रत्येक स्वस्थ पुरुष को करना उचित है। तैरना चलने के बराबर ही लाभकारी है। वरन् उससे भी कुछ श्रेष्ठतर हो सकता है, किंतु साधारण मनुष्यों के लिये अधिकता से यह अवसर, सरोवर आदि के अभाव से उपलब्ध नहीं है। घोड़े की सवारी भी अच्छा लाभ पहुंचाती है। मीलों के हिसाब से इसमें प्रायः उतना ही चलने से आधा व्यायाम होता है। नाव चलाने में भी अच्छा मनोरंजन और व्यायाम होता है। भोजन करने के कुछ ही पीछे स्नान न करना चाहिए। इसी लिये हमारे यहाँ स्नान के पीछे भोजन की विधि है। यदि किसी दिन समयाभाव से चलने के लिये पूरा अवकाश न मिले, तो दौड़ कर अपना व्यायाम पूरा कर

लेना चाहिए। प्रायः प्रातःकाल चलने, दौड़ने आदि के लिये रखना चाहिए और सायंकाल टेनिस, क्रिकेट, फुटबाल आदि क लिये।

रिहाइश

साधारण रिहाइश के विषय में भी मनुष्य को पूरा ध्यान देना चाहिए। कहा गया है कि रात को जल्दी सोना और प्रातःकाल जल्दी उठना मनुष्य को स्वस्थ, धनी और बुद्धिमान बनाता है। यह कथन केवल डींग नहीं है, वरन् विचारपूर्वक देखने से बहुत ही ठीक ठहरेगा। उर्दू के किसी कवि ने क्या ही यथार्थ कहा है —

"ग़ाफ़िलो करता है सूरज का इशारा सुबह को।
अब उठो सामां करो सब अपने अपने काम का॥
ख़ूब मेहनत करके दिन काटो कि रोज़ी हो नसीब।
शब का सोना वक्त फिर आयेगा वह आराम का॥"

हमारे यहाँ प्रातःकाल का संध्यावंदन नक्षत्र सहित काल में सर्वश्रेष्ठ कहा गया है। साधारण आह्निक सूर्योदय प्रायः डेढ़ घंटे में होता है। पहले पूर्व दिशा में कुछ कालिमा होती है जो क्रमशः बढ़कर पश्चिम की क्षितिज रेखा पर्य्यंत व्योम मडल में छा जाती है। फिर पूर्व दिशा से ऊषा की लालिमा का उदय होता है जो धीरे धीरे बढ़ती हुई कालिमा की भाँति पश्चिम तक छा जाती है। इसके पीछे सूर्य्य की लालिमा निकलती है और तब सूर्य्योदय होता है। इन सब बातों में उत्तरीय भारत में पूरा डेढ़ घंटा लगता है। यही डेढ़

घंटा प्रातःकालिक व्यायाम के लिये सर्वोत्कृष्ट है। दरवाज़े के वृत्तों की फुनगियों को जिस समय सूर्य-रश्मि आलिंगन करे, वेही समय मनुष्य के लिये व्यायाम से निवृत्त होकर घर पहुंचने का है।

स्वास्थ्य-प्राप्ति के लिये नशा, हुक्का आदि दुर्व्यसनों से प्रत्येक सुधी पुरुष को बचा रहना चाहिए। यह भी ध्यान रहे कि अतिचार (extremes) सेवन कभी न होने पावे; अर्थात् यह कभी न हो कि घोर शीत से प्रचंड उष्णता में आ जाय या ऐसी ही और बातें कर बैठे। स्वास्थ्य के लिये मनुष्य को साधारण स्वस्थ जीवन निर्वाह करना चाहिए। यह नहीं कि स्त्री-व्यसनादि बहुत अधिक बढ़ जायँ अथवा बिलकुल इन बातों का व्यवहार ही न हो। जिन इंद्रियों को प्रकृति ने जिन कामों के लिये प्रदान किया है, उनसे वही काम लेना चाहिए। उनसे विपरीत अथवा इतर नहीं। लड़कों के लिये आज्ञा है कि दिन रात के २४ घंटों में ८ घंटे सोओ, ८ घंटे पढ़ो, और ८ घंटों तक खाओ खेलो। युवा पुरुषों के लिये सात घंटे सोना अलम् है। जाड़े में आध घंटा अधिक सोना लाभकर है। भारी चिंता और दीर्घसूत्रता से सदैव बचना चाहिए। बहुत बातों में "देखा जायगा" का सिद्धांत शांतकर और लाभदायक होता है। इस से बहुत अंशों में मानसिक व्यग्रता का तिरोभाव हो जाता है।

ब्रह्मचर्य्य के सिद्धांतों पर ध्यान रखना साधारण स्वास्थ्य के लिये परम उपयोगी है। हमारे भारत में अपत्योत्पादिनी शक्ति थोड़ी ही अवस्था में प्राप्त हो जाती है, किन्तु

उसके व्यवहार में शीघ्रता न करनी चाहिए। १७ से २३ वर्ष की अवस्था में मनुष्य का शरीर जितना बढ़ता है, उतना और किसी अवस्था में नही बढ़ता। यही अवस्था जीवनगृह की नींव है, जिसके दृढ़ न होने से सारा भवन डगमगाने लगता है और थोड़े ही कारण से भरभरा कर ढेर हो जाता है। कहा भी है—

जीवन गृह की बालवैस है नींव विशाला।
कौन भौन बिनु सुदृढ़ नींव नहिं डगमग हाला॥

उपर्युक्त अवस्था मे शरीर की इतनी वृद्धि होती है कि जितना बल वीर्य्य सञ्चित होता है,उसी की वृद्धि में लग जाता है। यदि इस वय में वीर्य्य का कुछ भी अपव्यय होता है तो शरीर सदा के लिये रोगी और बलहीन हो जाता है। तुलसीदास जी ने क्या ही यथार्थ कहा है कि "सरुज शरीर वादि सब भोगा"। ब्रह्मचर्य के विषय में हम अपने निम्न दो छंद यहाँ लिख देना उचित समझते है—

ऋषियों ने व्रत ब्रह्मचर्य को नित सनमाना।
सकल व्रतों का सदा इसे सिरताज बखाना॥
चढ़ती है जो जोति बदन पर इस व्रत बर से।
मिलती है जो शक्ति भुजों को इस जसधर से॥

यह नहीं अन्य बिधि से कहीं किसी भाँति से नर पा सके।
अरु खाय हज़ारों औषधैं सब मंत्रों की दिसि तकै॥

यह व्रत पर पच्चीस बरस तक जो नर पालै।
सिंह सरिस सो गजै सदा रोगो को घालै॥

लखौं जियौं अरु सुनौं चलौं शत बरस अदीना।
विदित प्रार्थना है जु वेद में यह कालीना॥
वह जग में ऐसे पुरुष को पूरण होती है सदा।
जो पहले कर व्रत पूर्ण वरता है पत्नी सदा॥

उपर्युक्त विचारों के अनुसार बालविवाह और बहु-विवाह अत्यंत गर्हित है। जब वैवाहिक स्त्रीसंसर्ग विषय में ऐसे कड़े नियम हैं, तब व्यभिचार तो सभी दशाओं में महा-निंद्य है। प्रत्येक व्यभिचारी पुरुष आत्मघात का दोषी है और प्रति व्यभिचार एक प्रकार का आत्मघात है, जैसा कि ऊपरवाले अध्याय में कहा जा चुका है। प्रत्येक मनुष्य का शरीर उसके पास थाती स्वरूप है। किसी को ईश्वरीय थाती के साथ मनमानी करने का अधिकार नहीं है। अतः स्वास्थ्य संबंधी नियमों का पालन करना एक बड़ा धर्म है, यथा—
" शरीरमाद्यं खलु धर्मसाधनम्।"

स्वास्थ्य पर मानसिक विचारों का भी बहुत बड़ा प्रभाव पड़ता है। जो मनुष्य अपने को बूढ़ा समझने लगता है, वह थोड़े ही दिनों में वास्तव में बूढ़ा हो जाता है। यह कथन मानस शास्त्र के निगूढ़ सिद्धांतों पर अवलंबित है। इसका प्रदर्शन हम यहाँ एक उदाहरण द्वारा करते हैं। यदि पृथ्वी पर एक हाथ चौड़ा और पाँच सौ हाथ लंबा रास्ता बनाया जाय और किसी से कहा जाय कि इस पर इस प्रकार चलो कि बाहर पैर न पड़ने पावे, तो वह न केवल उसपर सुगमता-पूर्वक चला जायगा वरन् दौड़ भी सकेगा। किंतु यदि ऐसा ही रास्ता पचास गज ऊँची दीवार पर बनाया जाय, तो साधारण

मनुष्य उस पर चलने में गिर अवश्य पड़ेगा। अब देखना चाहिए कि रास्ता तो एक ही है, अर्थात दोनों दशाओं में बराबर चौड़ाई तथा समथल है, किंतु फिर भी चलनेवाले पर ऐसा प्रभाव क्यों पड़ता है? इसका कारण भय से बहुत बड़ा संबंध रखता है, अर्थात् मानसिक है। ऊँचे मार्ग पर चलने में मनुष्य को गिरने का भय आ घेरता है। ऐसी दशा में वह दिमाग में अपनी गिरती हुई प्रतिमा देखने लगा है। देह का यह नियम है कि वह मस्तिष्क के कर्म्मों की नकल करता है। इसी लिये भयवश गिरती हुई मानसिक प्रतिमा देखने के कारण शरीर न चाहते हुए भी उसकी नकल करके गिर पड़ता है। इसी भाँति जो मनुष्य अपने को बूढ़ा समझता है। वह दिमाग में अपनी बूढ़ी प्रतिमा देख कर थोड़े ही समय में सचमुच बूढ़ा हो जाता है। इसका एक यह भी कारण है कि अपने को बूढ़ा समझकर वह युवा लोगों के योग्य कामों में योग नहीं देता; जिससे थोड़े ही दिनों में शरीर बलहीन होकर उसे सचमुच बूढ़ा बना देता है। इसी से दर्शन शास्त्रज्ञों ने कहा है कि बढ़ती हुई अवस्था में भी मनुष्य को बालकोचित कर्म्मों और खेल कूदों में सम्मिलित होना चाहिए। जो लोग ऐसा करते हैं, वे साधारण लोगों की अपेक्षा कुछ अधिक दिनों में बूढ़े होते हैं।

चौथा अध्याय

कुटुंब

शारीरिक आत्मशिक्षण का वर्णन हम ऊपर कर आए हैं, तथा मनुष्य जीवन का साफल्य एवं ग्रंथ के विषय-विभाग संबंधी कथन भी हो चुके हैं। विषयानुसार अब धार्म्मिक और मानसिक आत्माशिक्षण का वर्णन करना चाहिए। ये दोनों विषय कुछ कुछ मिले हुए से हैं; क्योंकि मानुषीय प्रकृति संबंधी कथन धार्म्मिक शिक्षण में तो आते ही हैं, किंतु मानसिक में भी आ जाते हैं। हम कुटुंब, मित्रता, क्रोध आदि पर अपने विचार पृथक् पृथक् प्रकट करेंगे, जिनमें धार्मिक और मानसिक आत्मशिक्षणों के विषय में जो कुछ हमें कहना है, वह सब आ जाय। सब से पहले हम कुटुंब पर अपने विचार प्रकट करते हैं।

बालक का पहला शिक्षण कुटुंब ही से प्रारंभ होता है। कुटुंब ही से बढ़कर वह पाठशाला एवं संसार में प्रवेश करता है। कुटुंब ही से आगे निकलकर मनुष्य नागरिक होता है और उससे भी आगे बढ़कर देशवासी का पद प्राप्त करता है। अतः सबसे पहले कौटुंबिक शिक्षण पर ही ध्यान देना उचित है। प्रायः देखा गया है कि देशवासी हो कर बड़े बड़े मनुष्यों ने जो जो महत् कार्य किए हैं, उन सब के मुख्य कारण बीज रूप से बालक को कौटुंबिक जीवन द्वारा ही

प्राप्त हुए थे। मानुषीय प्रकृति एकाएकी नहीं उबल पड़ती, वरन् पौधे की भाँति बालपन से धीरे धीरे बढ़ती है। महाराज रामचंद्र के दो पुत्र थे और तीनों भाइयों के भी दो दो पुत्र थे। जिस समय भगवान् निर्वाण प्राप्त के इच्छुक हुए, तो उसके पूर्व उन्होंने अपने और भाइयों के आठों पुत्रों में सब राज्य विभक्त कर के सब को समान रूप से सुखी किया। यद्यपि उनकी इस उदारता से राज्य में कई स्वामी होने से बल की क्षति हुई, तथापि इससे उनका पूर्ण सुहृद्-भाव प्रकट होता है। इसी विचार का बीजरूप रामचंद्र जी के उन विचारों में मिलता है, जब बनवास के पूर्व उनको राज्य मिलनेवाला था। उस समय में उनके भावों का वर्णन गोस्वामी तुलसीदास जी ने निम्न छंदों द्वारा किया है—

जनमे एक संग सब भाई। भोजन सयन केलि लरिकाई॥
करनबेध उपवीत बिआहा। संग संग सब भयउ उछाहा॥
बिमल बंस यह अनुचित एकू। बंधु बिहाय बड़ेहि अभिसेकू॥

महात्मा कुमारिल्ल भट्ट एवं शंकराचार्य्य ने भारतवर्ष से बौद्ध-धर्म्म का मूलोच्छेदन कर डाला। इन लोगों का हृदय बाल वयस में वेदों की निंदा सुनकर संतप्त हुआ करता था। स्वामी दयानंद सरस्वती ने संसार में अखंड ब्रह्मचर्य्य का अद्भुत उदाहरण दिखलाया। इन्होंने भी बाल वय में अपने पिता द्वारा अपना विवाह होता देखकर घर छोड़कर भाग जाना ही उचित समझा था। जिस महात्मा गौतम बुद्ध ने संसार को आत्म-विसर्जन, दया और निर्वाण के अद्वितीय सिद्धांत सिखलाए, उसने भी बाल वय में ही बीमारों, वृद्धों, मृतकों

आदि को देखकर भारी विषाद किया था। आलविर क्रांवेल, नेपोलियन बोनापार्ट, मिल्टन आदि के उदाहरणों से भी यही बात सिद्ध होती है। कहते ही हैं कि "होनहार बिरवान के होत चीकने पात" सो यह पूर्णतया सिद्ध है कि जैसा बालक होता है, प्रायः वैसा ही मनुष्य होता है। कहा भी है कि बालक मनुष्य का पिता है। अतः बालक-शिक्षण, आत्म-शिक्षण का पहला तथा परम प्रकृष्ट सोपान है।

बालक में यह बहुत बड़ा गुण होता है कि वह प्रत्येक शिक्षण को बड़े उत्साह के साथ अंगीकार करता है, क्योंकि उसके पास पहले से किसी शिक्षण के विरोधी सिद्धांत नहीं होते। बालक स्वभावतः अनुकरणशील होता है। अतः वह जिसके पास विशेष रहता है, उसी के गुण, कर्म्म, स्वभावादि का अधिकता से अनुकरण करता है। बालक सब से अधिक माता के पास रहता है। सो माता ही उसके लिये पहला आदर्श है। जो माताएँ विदुषी एवं गुणवती होती हैं, वे अपने बालकों को उच्च आदर्श दिखलाकर उनके जीवन के लक्ष्य महान् कर देती हैं। यदि और कारणों से नहीं तो एक इसी कारण से स्त्री-शिक्षा परमावश्यक है। माताओं के सुगुण सीखने का सब से बड़ा उदाहरण अष्टावक्र का है। कहते हैं कि माता के विदुषी होने एवं पिता द्वारा निरंतर वेदाध्ययन होने से यह महात्मा गर्भ से ही वेदाध्ययन करने लगा था। इस कथन का अक्षरार्थ न लेकर यह तात्पर्य्य समझना चाहिए कि बहुत ही छोटी अवस्था से यह महात्मा वेदाध्यायी हुआ था। महात्मा शंकराचार्य्य की माता इतनी दृढ़चित्त की स्त्री-रत्न

थीं कि यद्यपि विवश होकर उन्हें अपने एकमात्र पुत्र को संन्यास ग्रहण करने की आज्ञा देनी पड़ी थी, तथापि इन्होंने शंकरवियोग का दुःख सदैव इसी विचार से मोचन किया कि मेरा पुत्र मेरी ही आज्ञा से सन्यासी हुआ है। फिर इसमें पश्चात्ताप कैसा? यही वज्रवत् दृढ़ता स्वामी शंकराचार्य्य की सारी प्रकृति में लक्षित होती है। महारानी यशोदा का पुनीत जीवन प्रेमपूर्ण था। उन्होंने संसार को पवित्र प्रेम का अभूतपूर्व उदाहरण दिखलाया है। यही प्रेम उनके पुत्र भगवान् श्रीकृष्णचंद्र की नस नस में व्याप गया था, जो उनके अनेकानेक सत्कर्म्मों से प्रकट होता है। महारानी कौशल्या का चित्त ऐसा ईर्षा-शून्य था कि यद्यपि महाराजा दशरथ अपनी छोटी रानी कैकेयी की अधिक प्रतिष्ठा करते थे, तथापि उन्होंने राजा से कभी किसी प्रकार का वैमनस्य प्रकट नहीं किया और सदैव उच्च मर्य्यादा को स्थिर रक्खा। इन्हीं के पुत्र महाराज रामचंद्र मर्य्यादापुरुषोत्तम हुए कि जिन्होंने यावज्जीवन कभी कोई मर्य्यादा भंग न की।

ईश्वर ने बाल वय जैसे अनेकानेक कर्म्मों के लिये अशक्त बनाई है, वैसे ही मानो इस शक्तिहीनता का बदला देकर इसे शिक्षा ग्रहण के बहुत ही योग्य बनाया और धारणा शक्ति इसे बहुत ही प्रखर प्रदान की है। कहते हैं कि मनुष्य चाहे जितने दिन जीए, किंतु उसके जीवन के पहले बीस वर्षों का समय शेष जीवन से बड़ा होता है, अर्थात् वह पहले बीस वर्षों में जितना सीखता है, उतना अपने शेष जीवन में नहीं सीख पाता। कहा गया है कि मनुष्य में छः और सोलह

वर्षों की अवस्थाओं में जितना अंतर होता है, उतना सोलह और साठ में नहीं होता। सयाने लोगों को यदि कुछ बतलाइए तो पहले वे उस पर ध्यान ही न देंगे; और यदि ध्यान भी दिया तो उस पर विश्वास लाकर उसका अनुकरण प्रायः कभी न करेंगे। इसमें बहुत से सयाने लोग अपनी मानहानि समझते हैं। यदि वे कुछ शिक्षा ग्रहण भी करते हैं, तो केवल दो चार चुने चुने लोगों से। ऐसी दशा में भी वे प्रायः ऐसे ही विचार मान्य समझते हैं जो स्वयं उन्हीं के विचारों से मिलते हुए हों अथवा प्रतिकूल न हों। बहुधा देखा गया है कि जब कहीं ऐसे लोग किसी सम्मति के प्रतिकूल कोई तर्क-सिद्ध प्रमाण नहीं दे सकते, तब भी प्रायः कह बैठते हैं कि हम बहस में तुम से जीत नहीं सकते; किंतु कथन हमारा ही ठीक है। हमने एक बार मंसूरी में अपने एक कृतविद्य मित्र से किसी सिद्धांत पर अनेकानेक तर्क देकर अपने विचार प्रकाश किए; किंतु उन्होंने कोई प्रतिकूल युक्ति न रखते हुए भी उसका ग्रहण करना उचित न समझा। उन्हीं से दो एक दिनों में प्रसंगवशतः एक ऐसे व्यक्ति ने वही हमारा विचार प्रकट किया कि जिस व्यक्ति पर उनकी विशेष श्रद्धा थी। इस पर उन्होंने विना विचारे उसे झट मान लिया।

कौटुंबिक जीवन की सुख शांति का मुख्य रहस्य प्रेम एवं क्रोधाभाव है। क्रोध के प्रकाश से सदन में शांति का लोप हो जाता है, कुटुंबियों को अनुचित कष्ट होता है, क्रोध करनेवाले की निर्बलता प्रकट होती है, बालकों को नीच उदाहरण मिलता है और हर प्रकार से हानि ही हानि होती है। प्रेम

मनुष्य जीवन का रत्न है। इससे मिट्टी सोना हो जाती है। संसार में सभी प्रकार की सुखवृद्धि प्रेम से होती है। यह प्रेमपात्र को तो सुख पहुँचाता ही है, किंतु प्रेमी को उससे भी अधिक सुखद है; क्योंकि उसकी प्रकृति को परमोच्च बना कर सदैव के लिये उसका कल्याणकारी होता है। कुटुंब प्रेम के लिये सब से बड़ा स्थान है। कोई निर्दयी मनुष्य भी बालक को देखकर प्रेम-मग्न हो सकता है और साधारण-तया होता भी है। जो मनुष्य किसी बालक से भी प्रेम नहीं कर सकता, उसे वास्तव में नर-पिशाच कहना चाहिए। घर, प्रेम और आह्निक कर्त्तव्य पालन का एक बड़ा पुनीत स्थान है। पिता पुत्र,-पति पत्नी, भाई-भाई में जैसा सहज प्रेम होता है वैसा इस स्वार्थी संसार में अन्यत्र देख पड़ना कठिन है। जो पुण्यवान् पुरुष इस सहज स्नेहमूर्ति को मित्रता के सुन्दर वस्त्र पहनाकर और भी शोभायमान कर सके, उसका जीवन धन्य है। जो पापी अपने निकट के संबंधियों से भी कर्त्तव्यपालन में असमर्थ रहेगा, वह संसार के साथ क्या कर्त्तव्य पालन करेगा? इसी से कहा जा सकता है कि गार्हस्थ जीवन नागरिक एवं देशीय जीवन की तालिका है। इतना अवश्य है कि मनुष्य नगर और देशवासियों को धोखा दे सकता है किंतु कुटुंबियों को नहीं; क्योंकि कुटुंब में उसे २४ घंटे रहना पड़ता है। सो यहाँ छद्मवेष नहीं चलता और वास्तविक रूप निकल ही आता है। यदि किसी का गार्हस्थ जीवन दूषित हो और फिर भी वह देश में प्रशंसा पा रहा हो, तो समझ लेना चाहिए कि उस बेईमान ने अपने देशभाइयों को भारी धोखा दे रक्खा है। वास्तविक महत्व गार्हस्थ

जीवन से ही प्रकट होता है। यह जीवन वास्तविक प्रकृति के लिये कसौटी है।

माता एवं पिता से बालक का जो पुनीत संबंध होता है, वह बहुत ही दैवी शक्तियुक्त है। संसार में मनुष्य अपने से बढ़कर किसी का होना नहीं चाहता, किंतु साधारण से भी साधारण पिता अपने से अपने पुत्र के बढ़कर होने का परमोत्सुक रहता है। यही एक अलौकिक भाव है जो इस पुनीत संबंध को बहुत ही उच्च बनाता है। फिर भी देखा गया है कि बहुत से पिता आलस्य ए ं अन्य क्षुद्र कारणों से अपने प्राणोपम पुत्रों के भरण, पोषण, शिक्षण आदि में उदासीनता अथवा शैथिल्य दिखलाते हैं। यह बात हर प्रकार से तिरस्करणीय है। बहुत से पिता एवं पति अपने पुत्र तथा पत्नी के क्षुद्र अथवा वृहत् दूषण देखकर उनसे ऐसे बिगड़ते हैं कि जन्म पर्य्यंत उनका मुखावलोकन तक नहीं चाहते। यह सदैव याद रखना चाहिए कि सहनशीलता और क्षमा कौटुंबिक जीवन के वैसे ही प्राण हैं जैसा कि प्रेम। बिना इनके प्रेम होते हुए भी कुटुंब नरकवत् हो सकता है। कुटुंब में क्रोध होना ही न चाहिए। किंतु यदि कभी उसके किसी व्यक्ति को किसी अन्य पर क्रोध आ जावे, तो दूसरे लोगों को उस समय शांति का आश्रय अवश्य ही लेना चाहिए। बिना इसके कुटुंब नष्ट भ्रष्ट हो जायगा। युधिष्ठर के भाइयों में ऐसे उदाहरण अनेक घटनाओं में मिलते हैं। यह क्षमा परमावश्यक है।

कुटुंब की आधार-स्वरूपा पत्नी है। बिना गृहिणी के गृह नहीं है। चाहे दस मनुष्य भी किसी घर में रहते हों,

किंतु कोइ स्त्री न हो, तो वह गृह सराय सा देख पड़ेगा। गृह को वास्तविक गृह बनाने की सामर्थ्य केवल गृहिणी में है। इसलिये गृह में सब से अधिक पूजाई गहिणी है। सत्य ही कहा जाता है कि जिस घर में स्त्रियाँ सुखी नहीं हैं, उसमें लक्ष्मी का निवास नहीं हो सकता। बहुतों का विचार है कि भारत में स्त्रियों का तादृश सम्मान नहीं है, किंतु यह विचार कुछ कुछ सत्य होने पर भी बहुत अंशों में अनुचित है। युरोप में स्त्रियों का बहुत बड़ा सम्मान किया जाता है, किंतु वहाँ अभी बात चीत तक में पुरुष का नाम पहले लिया जाता है, स्त्री का पीछे; यथा मिस्टर और मिसेज़ अमुक। इधर हमारे यहाँ स्त्री ही का नाम पहले लिया जाता है। यहाँ स्त्री पुरुष ऐसा कहा जाता है न कि पुरुष स्त्री। सीता-राम, राधाकृष्ण आदि नाम भी इसी कथन को पुष्ट करते हैं। हमारे यहाँ वहाँ की भाँति हस्बैंड (husband) और (and) वाईफ़ (wife) नहीं कहा जाता। सम्मानार्थ विद्या, द्रव्य, बल आदि के विचारों को हम लोगों ने सरस्वती, लक्ष्मी, दुर्गा से संबंध रखकर स्त्री-पन दे रक्खा है। हमारे यहाँ इसी प्रकार व्यक्तीकरण द्वारा प्रायः सभी उच्च भावों को सम्मानार्थ स्त्री-पन दिया गया है। फिर भी स्त्री-शिक्षा के अभाव का एक ऐसा प्रचंड दूषण भारत में आ पड़ा है कि जिसने स्त्रियों के बल को बहुत क्षीण कर रक्खा है। विद्वान पुरुष के सामने किसी अपढ़ मूर्ख के विचार कभी आदरणीय नहीं हो सकते। विद्वत्ता के सम्मुख मूर्खता का सदैव परा-भव होगा, यह एक साधारण बात है। एक इसी कारण से स्त्रियों की कुछ कुछ अवहेलना यदा कदा विद्वान हिंदू कुटुंबों

में हो जाती है, जो बात वर्त्तमान दशा में परम स्वाभाविक है। इसका निराकरण परम सुगमता से स्त्री-शिक्षा द्वारा हो सकता है। अब भी जाति बिरादरी तक में स्त्रियों का इतना मान है कि यदि किसी निमंत्रण में स्त्रियाँ जायँ, और किसी कारण से पुरुष न जा सकें, तो भी निमंत्रण करनेवाला संतुष्ट रहता है, किंतु यदि पुरुषों के जाने पर भी स्त्रियाँ न जा सकें तो निमंत्रण अधूरा ही स्वीकार समझा जायगा। अतः प्रकट है कि भाई बिरादरी, कुल कुटुंबादि में स्त्री का पद पुरुष से बहुत ऊँचा है।

स्त्री संसार-यात्रा में सब से अच्छी सखा होती है। दुःख सुख का बँटानेवाला संसार में स्त्री के बराबर और कोई व्यक्ति नहीं है। पिता पुत्र, भाई बहन सब छूट जाते हैं, किंतु स्त्री कभी नहीं छूटती। ऐसे चिरसंगी के चुनने में मनुष्यों को अनुचित शीघ्रता अथवा छिछोरपन कभी न करना चाहिए। केवल सुन्दरता पर स्त्रियों का चुनाव निर्भर रखना सर्वतोभावेन असंगत है। इस विषय में गुणों पर पूरा ध्यान देना चाहिए। थोड़े दिन के सहवास से सुंदर से सुंदर मुख साधारण समझ पड़ने लगता है, और विशेष आनंद नहीं देता। किंतु सुगुणों से नित्य नया आनंद प्राप्त होता है।

बहु-विवाह कुटुंब संबंधी एक बहुत ही बड़ा दूषण है। इससे स्त्री, पुरुष, संतान आदि सभी की प्रकृति दुष्ट हो जाती है, और बहुत ही सुन्दर स्वभाववाली सपत्नियों के अभाव में कुटुंब की पूरी सत्यानासी होती है। इतिहास में

राजाओं के यहाँ जो बहुत बड़ी बड़ी कौटुंबिक घटनाएँ हुई हैं, उनमें बहुतों का बहु-विवाह के कारण संघन न हुआ है। महारज दशरथ के तीन रानियाँ थी, किंतु वे रूपलावण्य के कारण अपनी छोटी रानी कैकेयी का सब से अधिक आदर करते थे। इस प्रकार ज्येष्ठा हो जाने से उनकी स्वाभाविक इच्छा यही हुई कि उसका यह पद चिरस्थायी बन जावे। इसी से औचित्य को तिलांजलि दे उसने रामचंद्र को बनवास दिला दिया, और अपने पुत्र भरत के लिये राज्य माँगा। भाग्यवश भरत की मानसिक उच्चता साधारण से बहुत बड़ी चढ़ी थी, जिससे भ्रातृ-विरोध तो नहीं होने पाया, और श्रीराम अपने उचित अधिकार से वंचित नहीं हुए। किंतु फिर भी राजा दशरथ की अकाल मृत्यु हो गई, और रामचंद्र को सीता, लक्ष्मण समेत चौदह वर्ष तक बनवास का कष्ट झेलना पड़ा। यह दुर्घटना सर्वतोभावेन बहु-विवाह पर अवलंबित थी। बहु विवाह ही के कारण से महात्मा ध्रुव ने बाल बय में भवन छोड़कर वन का आश्रय लिया था।

इसका एक बहुत बड़ा दूषण यह है कि पिता पुत्र के संबंध में वात्सल्य की मात्रा बहुत कम हो जाती है। सपत्नियों के संतानों को समझ पड़ने लगता है कि पिता अमुक विमाता और उसके संतानों का विशेष आदर करता है और हमारा कम। इस प्रकार पिता का अनंत प्रेमपूर्ण पद लुप्त होकर वह एक क्रूर हृदय अन्यायी मात्र रह जाता है। अनेकानेक प्रकट कारणों से साधारण विमाताओं में प्रेम नहीं रह सकता; इसी लिये उनके संतानों में भी विद्वेषाग्नि भड़का

करती है। ऐसी दशा में भाइयों का सहज सखावाला पद टूट जाता है, और उनको सहज शत्रु की पदवी मिलती है। जहाँ जहाँ राज्यार्थ बंधुविनाशक युद्ध हुए हैं, प्रायः उन सब में विमाताभव दूषण वर्त्तमान थे। मुग़लों के राज्य में इस कुप्रथा के उदाहरण परम प्रचुरता से मिलते हैं। युवराज सलीम (जहाँगीर शाह) ने अपने पिता अकबर के प्रतिकूल विद्रोह का झंडा खड़ा किया था। शाहजहाँ ने अपने पिता जहाँगीर से खुल्लम खुल्ला युद्ध किया, और अपने भाई परवेज़ और ख़ुसरू का बध कर डाला। बिचारे जहाँगीर को राजपूतों ने सहायता दी, तब कहीं उसका सिंहासन बचा, यथा—

"सरवर फूटा जल बहा अब क्या करें जतन।
जाता घर जहँगीर का रक्खा राव रतन"

इन सब उपद्रवों का पूर्ण कलंक उचित ही औरंगजेब के ऊपर जा पड़ा। इस नराधम ने अपने तीनों भाइयों को मार, पिता को कारागार दे और स्वयं अपने पुत्र मुहम्मद एवं कई भतीजों को यमलोक पठा राजसिंहासन पर अधिकार जमाया। सहसा देखने में यह एक बड़ा विप्लवपूर्ण कार्य्यसमुदाय समझ पड़ता है, किंतु यदि बर्नियर का इतिहास देखिए तो प्रगट होगा कि स्वाभाविक नियमों से ही बढ़ते बढ़ते क्रमशः इस पुरुष ने ये सब कार्य्य किए। ये कार्य्यसमुदाय मुख्यतया बहु-विवाह के दूषण पर अवलंबित हैं और अमुख्यतया शाहजहाँ की कुटुंबसंचालन संबंधी अव्यवस्था पर। शाहजहाँ अपने अधर्मी और बलात्कारी एवं असंतोषी

पुत्रों को हाथ में न रख सका। अदृढ़-चित्तता के कारण वह आदि में कभी दारा की ओर झुकता था कभी औरंगजेब की ओर। इन्हीं कुटुंब संबंधी दोषों ने भारतवर्ष की राज्यप्रथा को सैकड़ों वर्षों तक डाँवाडोल रक्खा। कुटुंब भी एक छोटा सा राज्य है। जो पिता इसे सावधानी से चला सकता है, उसके पुत्र सत्पुरुष और सद्गुणी होते हैं; तथा जो इसके उचित संचालन में असमर्थ रहता है, वह स्वयं अपने घर को नरक बना देता है और उससे जो संतान निकलती हैं, वे प्रायः सब दुर्गुणी और असज्जन होती हैं। सुचालित रहने पर कुटुंब पृथ्वी पर स्वर्ग का आनंद देता है। जो निष्कपट प्रेम और सच्चा वर्त्ताव इसमें होता है, वह साधारणतया प्रायः समस्त संसार में अप्राप्य रहता है।

कुटुंब संचालन के अनेकानेक उदाहरण मिलेंगे; किंतु राम और युधिष्ठिर के समान कौटुंबिक नेता बहुत कम पाए जायँगे। महात्मा रामचंद्र के यहाँ पहले एक दुर्व्यवस्था भी पड़ गई थी, किंतु इन्होंने एवं भरत ने इस खूबसूरती से निबाहा कि इनके व्यवहारों में उसका लेश मात्र भी कभी न देख पड़ा। श्रीरामचंद्र जी के तीनों भाई इनसे और आपस मे इतने दृढ़ प्रेमपाश से बद्ध थे कि आपस का साथ और अयोध्या छोड़ कर इनको बाहर राज्य करना तक पसंद न था। महाराज शत्रुघ्न को रामचंद्र ने बिना उनकी इच्छा के मथुरा का राज्य दे दिया, सो उन्हें तो धर्म्म समझकर उसका पालन करना पड़ा, किंतु भरत और लक्ष्मण ने भी एक एक राज्य जीता, पर फिर भी अयोध्या छोड़ वहाँ रहना पसंद न

कर के अपने अपने पुत्र को राज्यभार सौंप स्वयं अयोध्या ही में निवास करना सुखप्रद समझा। धन्य है ऐसे कुटुंब को, धन्य है उसके नेता को, और धन्य है उसके सब कुटुंबियों को कि जहाँ रह कर प्रत्येक पुरुष को राज्य सुख से अधिक आनंद प्राप्त था। जिस समय कारणवश श्रीराम ने न चाहते हुए भी लक्ष्मण का त्याग किया, तब वे इस संसार में कहीं भी न रह सके और उन्होंने सीधे गुप्तारघाट पर जाकर अपना शरीर छोड़ दिया। उनके वियोग को श्रीराम भी न सह सके और गुप्तारघाट की ओर चल पड़े। यह देख शत्रुघ्न ने मथुरा का राज्य पुत्र को दे एवं भरत ने राज्यमहल छोड़ श्रीराम का अनुगमन किया। इस प्रकार ये चारों भाई गुप्तारघाट में गुप्त हो गए। इन्होंने भ्रातृप्रेम का परम ज्वलंत उदाहरण संसार को दिखलाया है। यदि कुटुंब का संचालक श्रीराम के समान न्यायी हो, तो आज भी भरत लक्ष्मण और शत्रुघ्न से उदाहरण ससार में प्रस्तुत हो सकते हैं।

महाराज युधिष्ठिर ने भी कुटुंब-संचालन की योग्यता को पूर्ण रूप से प्रकट कर दिया है। इन्होंने यहाँ तक किया कि अपने भाइयों और स्त्री को जुए में हार दिया और दुर्योधन की सभा में क्षुद्र पुरुषों द्वारा उनका भाँति भाति से अपमान हुआ, किंतु किसी ने चूँ तक न की। जब दुर्योधन ने कहा कि इनमें से जो कोई युधिष्ठिर को अनीश कह दे, वह दासत्व से तुरंत मुक्त हो जायगा, तब भी चार भाइयों में से किसी ने भी ऐसा कहने का कलंक अपने ऊपर न लिया। वनपर्व के ध्यानपूर्वक पढ़ने से विदित हो सकता है कि कुटंब

का संचालन कैसे होना चाहिए। बहुत से कुटुंब-नेता अपने कुटुंब के जिस पुरुष को जितना गुणी एवं महान् देखते हैं, उसकी उतनी ही प्रतिष्ठा करते हैं; और जिसको कुछ असमर्थ पाते हैं उसका आदर तो दूर रहा, सहज स्नेह भी नहीं करते। यह कुटुंब-संचालन का एक बहुत बड़ा दूषण है; किंतु सूक्ष्म रीति से देखने पर अधिकांश कुटुंबियों में पाया जाता है। महाराज युधिष्ठिर ने इससे शुद्ध प्रतिकूलता दिखलाकर अपना महत्व प्रदर्शित किया है। वन पर्व में कहा गया है कि एक बार यमराज ने यक्ष का रूप धारण करके महाराज युधिष्ठिर के चारों भाइयों को मार डाला। फिर कारणवश इनसे कहा कि चारों भाइयों में से जिस एक का यह चाहें, जीवन माँग ले। उस समय इनका राज्य छूट चुका था और उसके फिर पाने की आशा केवल अर्जुन पर अवलंबित थी। तथापि इन्होंने अर्जुन अथवा भीम का भी पुनर्जीवन न माँग कर नकुल का इस कारण माँगा कि जब अपनी माता का बड़ा पुत्र मैं जीवित हूं, तब यदि मेरा एक ही भाई जी सकता है तो वह मेरी विमाता का बड़ा पुत्र होना चाहिए जिससे दोनों माताओं की संताने स्थिर रहे। धन्य है इस स्वार्थत्याग एवं न्यायप्रियता को। इस उदारता पर प्रसन्न हो कर यमराज ने चारों भाइयों को जिला दिया। रामानुजों के समान युधिष्ठिर के भी भाई जीवन पर्य्यंत उनसे अनुरक्त रहे, और अंत में सब ने साथ ही साथ हिमालय के हिम में शरीर त्याग दिया। जो कुटुंब-नेता अपने कुटुंब को उदार एवं प्रेमपूर्ण बनाना चाहे, उसको महाराज श्रीराम तथा युधिष्ठिर के पवित्र उदाहरणों का अनुकरण करना चाहिए।

कुटुंब को वैमनस्य से बचाने के लिये सबसे बड़ा उपाय स्वातंत्र्य प्रेम है। बहुत लोग जो बड़े उदार-चेता होते हैं, प्रायः अपने निकट के संबंधियों से इस कारण रुष्ट हो जाते हैं कि उनकी प्रकृति में तादृश् उदारता नहीं है। यदि मैं बड़ा भक्त हूँ तो कोई कारण नहीं है कि मेरा पुत्र भी वैसा ही भक्त हो। यदि मेरा पुत्र अथवा अनुज मेरे समान भक्त अथवा गुणी होवे, तो बहुत ही अच्छा है, किंतु न होने से मुझे तब तक उस पर क्रोध न करना चाहिए जब तक उसका आचरण मेरे सिद्धांतों को छोड़ कर साधारण जनसमुदाय की दृष्टि से देखने पर भी नीचे न गिरता हो। एक क्षत्रिय महाशय ऐसे धर्मात्मा थे कि दिन में छः घंटे पूजन करते और अन्य प्रकार से भी आदर्श उदाहरण दिखलाते थे। वे अपने पुत्र, भतीजों आदि से इस कारण अप्रसन्न थे कि वे हुक्का पीते और मांस खाते थे। इन्हें समझना चाहिए था कि जब अधिकांश क्षत्रिय बालक ऐसा करते है, तब उन्हीं के बालकों पर क्यों इन्हीं बातों के लिये कोई अप्रसन्न हो। सारांश यह है कि अपने कुटुंबियों से अच्छे आचरण के कारण हमें प्रसन्न होना चाहिए; किंतु जब तक उनके आचरण वस्तुतः बुरे न हों, तब तक अपने आचरणों की तुलना में उन मे भेद अथवा हीनता पाने से हमें विक्रमादित्य की भांति पुत्र प्रतापादित्य पर पक्षी-वध के लिये वैष्णवता-विच्छेद के विचार से जामे के बाहर न होना चाहिए। सहिष्णुता कौटुंविक जीवन के लिये प्रेम ही के समान आवश्यक है। हम अपने विचार औरों पर प्रकट करके उन्हें अपने मत पर लाने का प्रयत्न भले ही करें, किंतु उनके लिये इतना

आग्रह न करे कि दूसरों को उठना बैठना कठिन हो जाय। अतः आदर्श कौटुंबिक जीवन के लिये प्रेम, सहिष्णुता, स्वतंत्रता, क्षमा, क्रोधाभाव और न्याय की बहुत बड़ी आवश्यकता है। जो इन बातों को ध्यान में रक्खेगा, उसका कुटुंब अवश्य स्वर्गोपम होगा।

पाँचवाँ अध्याय

मित्रता

जिन मनुष्यों में परस्पर सहानुभूति और सहायता की इच्छा हो, उन्हें मित्र कहते हैं। प्रेम मित्रता का जीव है। यह प्रेम विशुद्ध होना चाहिए, कारणवश नहीं। बहुतों का विचार है कि जो प्रेम कारणवश होता है, वह वास्तविक प्रेम है ही नहीं। यह कथन एक अंश में दार्शनिक सिद्धांतानुसार यथार्थ भी है, किंतु फिर भी संसार में ऐसे विशुद्ध प्रेम के उदाहरण अधिकता से नहीं मिलते। ईश्वर संबंधी प्रेम में भी लोग कभी कभी स्वार्थ की दुर्गंधि लगाते हैं। परोपकार संबंधी प्रेम शुद्धतर होता है, किंतु यदि आत्मा के ज्ञान को विस्तीर्ण कीजिए तो परमात्मा और आत्मा में कोई भेद रहता ही नहीं; और स्वार्थ तथा परोपकार एक ही हो जाते हैं। इन ऊँचे दार्शनिक सिद्धांतों को छोड़ कर हम यहाँ मोटे प्रकार से विशुद्ध प्रेम का कथन करते हैं। सच्ची मित्रता के लिये विशुद्ध प्रेम का होना आवश्यक है। हमारे उपर्युक्त लक्षण में सहानुभूति के अंतर्गत प्रेम-पूर्णता आ जाती है। इस स्वार्थी संसार में पूर्ण मित्रता के उदाहरण बहुधा देख नहीं पड़ते। मित्रता के लिये जो बात आवश्यक हैं, उनकी मात्रा जहाँ जितनी अधिक होगी, वहीं मित्रता भी उतनी अधिक होगी।

कुछ लोगों का विचार है कि मित्रता के लिये श्रद्धा एवं आदरणीय भाव भी आवश्यक है। हमारी समझ में मित्रता में यह बात बहुतायत से देखी अवश्य जायगी, किंतु मित्रता के लिये यह आवश्यक नहीं है। हाँ सज्जन मित्रों के लिये यह निःसंदेह आवश्यक है। चोरों और डकैतों में भी मित्रता होती है और बहुधा श्रद्धा भी होती है; किंतु ऐसा भी चोर हो सकता है, जो चोर होते हुए भी चोर विद्या पर श्रद्धा न रखता हो। ऐसा व्यक्ति स्वार्थवश उस्ताद चोरों से मित्रता अवश्य करेगा, किंतु अपने चित्त से उनका आदर नहीं करेगा। फिर भी सहानुभूति और सहायक विचारों के कारण उनकी मित्र ा सच्ची कही जायगी। साधारणतया मित्रता में आदरणीय बुद्धि प्रायः पाई जायगी और मोटे प्रकार से मित्रता का अंग भी मानी जा सकती है।

शुद्ध निष्कारण मित्रताएँ संसार में कुछ कम देखी जाती है, और मित्रभाव जुड़ने में स्वार्थादि का कोई कारण अवश्य लगा रहता है। फिर भी प्रत्येक स्वार्थजन्य मित्रता अशुद्ध नहीं है। मोटे प्रकार से वही मित्रता अशुद्ध मानी जायगी, जो तात्कालिक या किसी खास स्वार्थ के कारण हो। फिर भी जिस मित्रता में सहृदयता की मात्रा जितनी ही कम और आशा की जितनी ही अधिक होती है, वह उतनी ही कच्ची होती है; क्योंकि आशा के टूट जाने पर वह स्थिर नहीं रह सकती। सांसारिक मित्रताओं में आशा और सहृदयता की मात्राएँ प्रायः मिली रहती है, किंतु वास्तविक मित्रता की परिपोषिक सहृदयता ही है। प्रत्येक मनुष्य को चाहिए कि

अपने मित्रों में यह सदैव विचारे रहे कि किस का लगाव आशा पर अवलंबित है और कितना कितना ? जो लोग इतनी परख की पात्रता नहीं रखते, वे संसार में साधारणतया कभी वास्तविक मित्र नहीं पाते और खुशामदियों से घिरे रहते हैं। सन्मित्र का पाना एक बहुत बड़े भाग्य की बात है । बहुत बड़ी परख करने और कष्ट उठाने से सज्जन मित्र मिल सकता है। जो मूर्ख मित्र और खुशामदी का अंतर नहीं समझ सकते, वे बहुधा खुशामदी ही की ओर विशेषतया झुकते हैं, क्योंकि चापलूस लोग स्वार्थ के कारण अपने आचरणों के उससे उचित से कहीं अधिक श्रद्धा भक्ति दिखलाते और सदा उस की हाँ में हाँ मिला कर उसे प्रसन्न करने का प्रयत्न किया करते हैं। कोई सच्चा मित्र अपने को इस प्रकार नीच बनाना भला काहे को पसंद करेगा। सो ऐसे पुरुष को वास्तविक मित्र होने योग्य मनुष्य मिलने पर भी इन दोनों में या तो मित्रता का अंकुर फूटता ही नहीं; और यदि भाग्यवश फूटा भी, तो उसके बढ़कर वृक्ष बनने की नौबत नहीं आती और वह मूर्ख की ओर से उदासीनता रूपी अनावृष्टि से बीच ही में सूख जाता है। मित्रता बहुधा अग्नि की भाँति यकायक नहीं धधक उठती, वरन् वृक्ष की भाँति धीरे धीरे अंकुर से बढ़ती है। कहा भी है—

आरम्भगुर्वी क्षयिणी क्रमेण,
लघ्वी पुरा वृद्धिमती च पश्चात् ।
दिनस्य पूर्वार्धपरार्ध-भिन्ना,
छायेव मैत्री खलसज्जनानाम् ॥

खलों की मित्रता दिन की पूर्वार्धवाली छाया के समान पहले बड़ी होती है, किंतु धीरे धीरे क्षीण होती जाती है; और उधर सज्जनों की मैत्री दिन के परार्धवाली छाया के समान पहले तो छोटी होती है, किंतु समय के साथ बढ़ती ही जाती है। खलों की जिस मैत्री का यहाँ वर्णन हुआ है, वह वास्तव में मैत्री न होकर केवल धोखेबाज़ी है।

संसार में सभी मित्रताएँ निष्कारण प्रारंभ नहीं होतीं; किंतु भद्र पुरुषों का यह सहज स्वभाव है कि किसी कारण से जब किसी से एक प्रकार का सद्व्यवहार बढ़ गया, तो वह कारण निकल जाने पर भी उस में क्षति न आने पावे। भद्रत्व तथा वज़ादारी के यही माने हैं कि जिस को एक बार जैसा कह कर पुकारा, उसे श्रेष्ठतर भले ही कहें, किंतु बिना किसी दूषण के अधमतर कभी न कहना। इसी लिये कहा गया है कि जिसको बात दो, उसके बाप दो। बात का स्थिर रखना सज्जनता का एक बहुत बड़ा अंग है। जिसकी बात एक नहीं, उसे पूरा निमुच्छा समझना चाहिए। सज्जन पुरुषों की मित्रताएँ प्रारंभ में सकारण होने पर भी आगे बढ़कर निष्कारण हो जाती हैं। उधर दुष्ट लोग निष्कारण मित्रता करते ही नहीं।

शुद्ध मित्रता केवल समता सिद्धांत पर हो सकती है। जो लोग अपने को समान नहीं समझते, उनमें आश्रयी-आश्रित अथवा ऐसा ही कोई और संबंध भले ही हो, किंतु शुद्ध मित्रता नहीं हो सकती। शुद्ध मित्रता के लिये मित्रों के धन, वैभव, बुद्धि, विद्या, अधिकार ऐश्वर्यादि में समानता होना आव-

श्यक नहीं। किंतु यह आवश्यक है कि किन्हीं भी सच्चे या झूठे कारणों से वे एक दूसरे को वास्तव में समान समझते हों और ऐसा ही व्यवहार आपस में करते हों। बिना इसके मैत्री में कुभाव जुड़ जाने से कच्चापन आ जायगा। अधिक से अधिक यहाँ तक माना जा सकता है कि मित्र चाहे एक दूसरे को समान न भी समझते हों, किंतु यह आवश्यक है कि वे ऐसे हों कि आपस में समता का व्यवहार कर सकते हों। विचारों में समता का होना बहुत ही अच्छा है, किंतु यदि व्यवहार तक में शुद्ध समता हो, तो विशुद्ध मैत्री मानी जा सकती है। महर्षि द्रोणाचार्य्य पांचालराज द्रुपद के बालसखा थे, किंतु जब उसके राजा होने पर ऋषिवर ने उसे जाकर सखा कहा, तब मोहवश वह क्रोधांध हो गया और एक साधारण धनहीन ब्राह्मण द्वारा सखा कहे जाने से उसने अपनी मानहानि समझकर द्रोणाचार्य्य को अनेक दुर्वचन कहे। इस उदाहरण से द्रुपद का क्षुद्रत्व और द्रोणाचार्य्य का छलहीन स्वभाव तो प्रकट होता ही है, किंतु यह भी प्रकट होता है कि जब तक दोनों मनुष्य एक दूसरे को समान न समझें, तब तक उनमें वास्तविक मित्रभाव स्थिर नहीं हो सकता।

ऊपर हम मित्रता की मुख्याताओं का वर्णन कर चुके। अब यह कथन शेष है कि कैसे लोग एक दूसरे के मित्र हो सकते हैं और उनको आपस में कैसा व्यवहार करना चाहिए। पहले हम प्रथम विषय को उठाते हैं। स्वाभाविक प्रकार से सम प्रकृति के मनुष्य ही एक दूसरे के मित्र हो सकते हैं। जिस समय पांचालराज द्रुपद ने द्रोणाचार्य्य का उपर्युक्त अपमान

किया, उस काल मित्रता के योग्य पुरुषों का वर्णन उन्होंने इस प्रकार किया था—

"अज्ञान कैसी बुद्धि है तव विप्र दुर्मतिभौन।
कहो मोको सखा सहसा आय के तुम जौन॥
रही हमसों प्रीति तुमसों एक बासहि पाय।
सख्य निर्धन धनिक सों नहिं होत है सुखदाय॥
सूर सों अरु क्लीव सों नहिं होति प्रीति समान।
होति है कृश थूल सों नहिं प्रीति चित-सुखदान॥
सम वित्त ते सम जाति ते द्विज होत सख्य विवाह।
रथी अरथी सों नहीं है सख्य को उतसाह॥"

द्रुपद के विचारों से सख्य के लिये हर प्रकार से समता का होना आवश्यक है, किंतु ध्यानपूर्वक देखने से समझ पड़ेगा कि उन्होंने समता के विचार को बहुत अधिक बढ़ा दिया था। दो मनुष्य चाहे सभी बातों में सम न हों और मुख्य मुख्य बातों में उनमें प्रचंड विषमता हो, फिर भी कुल मिलाकर यदि वे एक दूसरे को सम समझें, तो उनमें शुद्ध मित्रता हो सकती है। अच्छी मित्रता के लिये यह आवश्यक है कि मित्र गण एक दूसरे को आदरणीय समझते हों। अतः जिस गुण को जो मनुष्य आदरणीय समझेगा, प्राकृतिक नियमों से वह उसी प्रकार के गुणी का मित्र हो सकता है। प्रत्येक अच्छी मित्रता के लिये सज्जनता आवश्यक है। जो मनुष्य जीवन- प्रपन्नता के कारण विविध पदार्थों एवं गुणों में मन लगा सकता है, वह यदि सज्जन भी हो तो अनेक प्रकार

के मनुष्यों का बहुत अच्छा मित्र हो सकता है। मित्रता की योग्यता के लिये गुणग्राहकता और वैविध्य बहुत बड़े गुण हैं, तथा आनिवृत्य (एकांगीपन) बहुत बड़ा दोष है। जो मनुष्य सब ओर दृष्टि दौड़ाकर सभी या बहुत प्रकार के गुणों को पसंद नहीं कर सकता, वह तेलीवाले बैल के समान हो जाता है। इस प्रकार उसकी जीवन-पूर्णता में बहुत बड़ी क्षति पहुँचती है। यदि राजा द्रुपद अपने ऐश्वर्य्य से पूर्णतया मदांध न होता, तो उसे द्रोणाचार्य्य में बहुत से पूज्य गुण देख पड़ते, जैसे कि भीष्म पितामह को देख पड़े; और वह केवल यह कहकर अपनी मूर्खता प्रकट न करता—

"सखा ऐसे नरन के नहिं होत भूप सुजान।
धनहीन ब्राह्मण कृपण भिक्षुक फिरत माँगत दान॥"

बहुधा देखा गया है कि जिसके पास जो गुण होता है, वह यदि साधारण पुरुष हुआ तो आत्म-प्रेमवश उसी गुण को सर्वोपरि मानकर अन्य परम श्रेष्ठतर गुणों से भी ऐसा ही उदासीन रहता है जैसे कि राजा द्रुपद रहा। गुणोपासक होना जीवन-प्रपन्नता के लिए परमावश्यक है; और यही गुण मनुष्य को मित्र बनने योग्य बनाता है। महात्मा बासपेल डाक्टर जानूसन को गुणों पर ऐसा मुग्ध था कि हजार प्रकार ज़र्क खाने पर भी उससे जानूसन के गुणों पर मुग्धता प्रकट किए बिना नहीं रहा जाता था। यही भाव सज्जनता के लिये आवश्यक है और यही मित्रता का प्राण है।

मनुष्य बालवय में बहुत श्रद्धालु रहता है और उसमें श्लाघा का गुण बहुत अधिक होता है। इस अवस्था में

दुनिया के छल प्रपंच भी नहीं घेरते और मनुष्यों को सांसारिक चिंताएं बहुत कम रहती है। बालकों में उत्साह की भी मात्रा अधिकता से होती है। अतः वे जो कुछ करते हैं, उसे पूर्ण अनुराग और उमंग के साथ। इन्हीं कारणों से यह अवस्था मित्रता के लिये परम उपयोगी है। इस अवस्था में मनुष्य का ज्ञान संकुचित रहता है और वह जानता भी है कि मैं पूर्ण ज्ञानी नहीं हूँ। अतः वह सभी बातों के सीखने का प्रयत्न किया करता है और उनमें पूर्ण उत्साह के साथ मन लगाता है। जो मनुष्य जितनी अधिक बातों में मन लगा सकता है, उसे उतनी ही अधिक प्रसन्नता हो सकती है। इन कारणों से बाल्यावस्था आनंद भोगने की उमर है। इस वयस में मनुष्य थोड़ी ही सी बात से बहुत प्रसन्न हो जाता है। बच्चे साधारण गाड़ी को निकलते हुए देखकर ही मारे आनंद के उछलने लगते हैं। ईश्वर ने यह अवस्था सभी कुछ प्राप्त करने के लिये बनाई है। इसमें मनुष्य विद्या, सुख, मित्र, कुतूहल आदि बड़ी सुगमता से प्राप्त कर सकता है और करता भी है। मित्रता उत्पन्न करने और बढ़ाने के सभी लक्षण बालक में होते हैं। थोड़ी बात से अधिक आनन्द प्राप्त करनेवाली बानि के कारण बालक मित्रता से पूरा आनंद उठाते हैं। इसी लिये सयानी अवस्था में भी यह सुख स्मरण रहने के कारण मनुष्य को बालवय के मित्रों पर सदैव श्रद्धा रहती है। यथासाध्य भाई भाई को मित्र अवश्य होना चाहिए; क्योंकि ये प्राकृतिक सखा हैं। संबंधियों में भी यथासंभव मित्रभाव की स्थापना करनी चाहिए।

प्रत्येक सज्जन पुरुष का धर्म्म है कि किसी से चाहे मित्र-

भाव न भी हो, किंतु फिर भी उससे सौहार्द्रपूर्ण व्यवहार रक्खे। ऐसा आचरण रखने से वह मनुष्य संसार का मित्र कहा जा सकता है। मित्रता एक परम स्वाभाविक वस्तु है। जानवर भी समय पर मित्रता दिखलाते हैं। कुत्ते की मित्रता बहुत ही ऊँचे दर्जे की होती है। बहुत से हाथी, घोड़े आदि भी अपने मालिक एवम् भोजनदाता से प्रगाढ़ मित्रता रखते हुए देखे गए हैं। फिर यदि सर्वगुणसंपन्न होकर मनुष्य मित्र भाव का समादर न करे, तो उसे शत बार धिक्कार है। मित्रता भी बिना किसी के गुण दोष जाने अनुचित शीघ्रता के साथ कभी न करनी चाहिए कि जिसमें पीछे से पछताना पड़े। मनुष्य को प्रत्येक संबंध बहुत सोच समझकर बढ़ाना चाहिए। यदि किसी प्राकृतिक संबंधी से सहज मित्रता टूटे, तो मनुष्य कह सकता है कि मैं इस विषय में उत्तरदाता नहीं हूँ, क्योंकि यह मित्रता प्रकृति की जोड़ी हुई थी न कि मेरी। इधर स्वयं अर्जित मित्रता के टूटने का पूरा उत्तरदायित्व उसी मनुष्य पर पड़ता है जिसने कि उसे जोड़ा और फिर तोड़ा। कहा भी है--

जोरन में नव नेह नहीं चंचलता आनौ।
जुरे नेह पै ताहि निवाहन ही अनुमानौ॥

ऊपर हम कह आए हैं कि मित्रता की मुख्यताएँ क्या हैं एवम् कैसे लोग मित्र हो सकते हैं। अब यह कहना शेष है कि मित्रता होने पर कैसा व्यवहार उचित है। महात्मा तुलसीदास जी ने इस प्रश्न का उत्तर इस प्रकार दिया है—

जे न मित्र दुख होहिं दुखारी।
तिनहिं बिलोकत पातक भारी॥
निज दुख गिरिसम रज कर जाना।
मित्र के दुखरज मेरु समाना॥

जिन के अस मति सहज न आई।
ते सठ कत हठि करत मिताई॥
देन लेत मन संक न धरई।
बल अनुमान सदा हित करई॥

कुपथ निवारि सुपंथ चलावा।
गुण प्रगटइ अवगुनहिं दुरावा॥
विपति काल कर सतगुन नेहा।
श्रुति कह संत मित्र गुन एहा॥

आगे कह मृदु वचन बनाई।
पाछे अनहित मन कुटिलाई।
जाकर चित अहि-गति सम भाई।
अस कुमित्र परिहरेहि भलाई॥

सेवक सठ नृप कृपिन कुनारी।
कपटी मित्र सूल सम चारी॥

उपर्युक्त छंदों में गोस्वामी जी ने मित्रता का बहुत ही सुंदर और विशुद्ध रूप कहा है। वास्तविक मित्र के लिये संसार में कोई पदार्थ अदेय नहीं होना चाहिए, विशेषतया समय पड़ने पर। जिस समय वीरवर अर्जुन ने भगवान श्री कृष्णचन्द्र से उन्हीं की भगिनी भगा ले जाने की सम्मति माँगी, तब भी भगवान ने नाहीं न की और उन्हें इस कार्य्य

में सहायता भी दी। मित्रों को सब प्रकार से अपने को एक समझना चाहिए। मित्र को उचित सहायता में तन मन धन का अर्पण करना परमावश्यक है। इतिहास में मित्रों के ऐसे उदाहरण मिलते भी हैं। वीरवर कर्ण राजा दुर्योधन का अंतरंग मित्र था। जिस समय भगवान् श्रीकृष्ण ने एवं स्वयं उसकी माता कुंती और पिता सूर्य ने उसको सम्मति दी कि "तू सूतजपन छोड़कर पांडव हो जा, और सब भाइयों में बड़ा होने के कारण राज्य कर" तब उसने निःसंकोच भाव से यही उत्तर दिया कि मैं अपने मित्र दुर्योधन का साथ कदापि नहीं छोड़ सकता। उसने भगवान से कहा कि मैं अपने पालक माता पिता का पिंड छेदन कदापि नहीं करूंगा; और—

"ताहू सों अति कठिन है दूजो कारण तात।
दुर्योधन के मित्र हम सब नृपगन में ख्यात॥
मोहिं भीष्म द्रोण कृप सों अधिक योधा जानि।
पांडव सों बैर कीन्हो मंत्र मम हित मानि॥
युद्ध करि जय लहन को अति मोर जाहि भरोस।
तजब ऐसे काल ताहि विश्वासघातकु दोस॥
होत सब पातकन सों विश्वासघात गरिष्ट।
परम धर्मी विदित हम किमि करें सो गति इष्ट॥"

यही शुद्ध मित्र का कर्त्तव्य है जो पालन करके कर्ण ने अक्षय यश प्राप्त किया। फिर भी संसार में प्रत्येक मनुष्य को अनुचित लाभ की आशा कभी न करनी चाहिए। जहाँ एक मित्र का यह धर्म्म है कि तन, मन, धन से दूसरे की

सहायता करे, वहाँ दूसरे का भी कर्त्तव्य है कि अपने लिये मित्र को तिल मात्र कष्ट या संकोच न होने दे। सुदामा परम दरिद्र होने पर भी कृष्ण भगवान के सखा थे। जब उनकी स्त्री ने यह सुना कि भगवान उनके बालसखा हैं, तब उसने अपने पति को भगवान के पास जाने के लिये हठ किया। इसका उत्तर महात्मा सुदामा ने इस प्रकार दिया—

"तू तो कहै नीको सुनु मोसों बात जी की यह रीति मित्रई की दिन प्रति सरसाइए। बित के लिये ते बित चाहिए परसपर जेंइए जो मीत के तो आपने जिमाइए। वे हैं महराज जोरि बैठत समाज भूप तहाँ यहि रूप जाय कहा सकुचाइए। दुखै सुखै अब तौ बनैई दिन भरे भूलि बिपति परे पै द्वार मीत के न जाइए॥"

घोर दरिद्रता के कारण इनकी स्त्री ने हठ न छोड़ा और इन्हें द्वारका जाना ही पड़ा। इस पर भगवान ने इन्हें इतना दान दिया कि—

"कहै रुकुमिनी स्याम सों यह धौं कौन मिलापु।
करत सुदामा आपु सम होत सुदामा आपु॥"

फिर भी संसार में सर्वत्र इस ऊँचे दरजे की मित्रता नहीं देख पड़ती, अपिच प्रत्येक समय मनुष्य में वीर भाव नहीं जागृत रहता। इसी लिये यदि कोई मनुष्य कवियों द्वारा वर्णित मित्रता के पाये तक अपना आचरण न पहुँचा सके, अथवा किसी समय भूलकर कोई पोच काम भी कर बैठे, तो उससे एक बारगी श्रद्धा उठा लेनी अनुचित है। यह सदैव स्मरण रखना चाहिए कि मनुष्य स्वभावशः एक निर्बल जीव है। यहाँ तक देखा गया है कि मूर्ख लोग अपने मज़ाक के मज़े

को भी न छोड़ सकने के कारण कभी कभी मित्रता ही को छोड़ देते हैं। जैसे अन्य संबंधों की दृढ़ता के लिये क्षमा एक परमावश्यक गुण है। उसी भाँति मित्रों में भी इसका पूर्ण व्यवहार होना उचित है। साधारणतया कोई भी ऐसा दूषण नहीं है जो क्षमाशील मनुष्य क्षमा न कर सकता हो। भगवान वसिष्ठ की नंदिनी गाय विश्वामित्र उनके सामने छीने लेते थे, किंतु फिर भी उन्हें क्रोध न आया और उन्होंने कहा--"क्षमा मोहिं न तजत नंदिनी रुचै कीजै तौन।" इसी भाँति शत पुत्रों के वध पर भी ऋषिवर वसिष्ठ ने क्षमा का त्याग नहीं किया। साधारणतया यदि मित्र का अधिक उपकार न हो सके, तो भी मनुष्य को उचित है कि यथासाध्य बिना किसी आशा के उपकार करे। मित्र का अपकार बहुत बड़ा पातक है। प्रत्युपकार शुद्ध मित्रता का अंग नहीं है, किंतु जैसी मित्रताएँ संसार में बहुधा देखी जाती हैं, उनके विचार से इस पर सदैव ध्यान रखना चाहिए। कहा भी है-

कृते प्रत्युपकारो यो वणि शर्म्मो न साधुता।
तत्रापि ये न कुर्वन्ति पशवस्ते न मानुषाः॥"

मित्रता केवल अधिकार नहीं है, वरन् इसका उत्तरदायित्व भी बहुत अधिक है। इसलिये बिना सोचे समझे किसी को मित्र न मान लेना चाहिए। मित्रों की संख्या भी परिमित रहना चाहिए। जो लोग बहुत से मित्र करते हैं, उनका कोई भी वास्तविक मित्र नहीं होता; और वे अपने मानसिक भ्रमवश केवल चिन्हारियों को मित्र समझा करते हैं। ऐसे ही लोगों को समय पर धोखा होता है। प्रेम की

मात्रा भी मनुष्य में असीम नहीं होती। वास्तव में यह मात्रा बहुत ही सीमा-संकुचित है, यद्यपि साधारण लोग इस बात को समझ नहीं पाते। यह प्रेम चाहे थोड़े मनुष्यों में बाँटे चाहे बहुतों में, किंतु इतना स्मरण रखना चाहिए कि बाँटने की पूँजी उतनी ही है। बहुत लोगों में बाँटने पर उसकी मात्रा प्रति स्थान में बहुत ही स्वल्प रह जाती है। शर्करा पास उतनी ही है। मनुष्य को अधिकार है कि उससे चाहे जितना मीठा अथवा फीका शर्बत बना ले। यह कथन कुछ विवादग्रस्त अवश्य है। अभ्यास से मनुष्य प्रेम की मात्रा बढ़ा सकता है; किंतु योगियों को छोड़ वह और किसी में असीम नहीं हो सकता। उपरोक्त कथन हमने अपने अनुभव के अनुसार किया है। संभव है कि अन्य लोग इसे न मानें, किंतु हमारे देखने में जितनी मित्रताएँ आई, उनमें हमने यही पाया कि जिन के अधिक मित्र हैं, उनमें प्रगाढ़ मैत्री नहीं है और जिनके थोड़े मित्र हैं, उनकी मित्रता का संबंध विशेषतया घनिष्ट देखा गया है। साढ़े तीन तथा सौ मित्रों-वाली कहावत भी इसी विचार को पुष्ट करती है। कहते हैं कि एक वृद्ध के साढे तीन मित्र थे और उसका पुत्र समझता था कि मेरे सौ मित्र हैं, किंतु जब परीक्षा ली गई, तब पिता-वाले आधे मित्र का शतांश भी पुत्र के सौ मित्रों में से एक भी न निकला।

समय के साथ प्राचीन मित्रता स्वभावशः कुछ मंद पड़ जाती है। ऐसी दशा में मनुष्य को अपने प्राचीन मित्रों को दोष न देना चाहिए। सज्जनता एवं मित्रता का इतना

तकाजा अवश्य है कि जिसको एक बार मित्र कहके पुकारे, उसे किसी दशा में भी अनुचित हानि न पहुँचावे। भगवान श्रीराम ने उचित ही कहा था—

"मित्र कह्यो गहि बाँह कानि कीजतु है ताते।"

वास्तव में मित्रता का जोड़ना तो सहज है किंतु उसका निभाना कठिन। मित्रता से प्रवीण पुरुषों को आत्म-शिक्षण का बहुत बड़ा लाभ होता है। सज्जन एवं उदार पुरुष से अथवा किसी भी गुणी से मैत्री होने पर उसके गुण प्राप्त करने का अच्छा अवसर मिलता है। सच्चे मित्रों का प्रभाव एक दूसरे पर बहुत पड़ता है। इससे उन्नत स्वभाववाले मनुष्यों से मैत्री होने पर साधारण मनुष्य की भी प्रकृति बहुत नहीं तो थोड़ी उन्नता अवश्य ग्रहण करेगी। सज्जनों की मैत्री का यह बहुत बड़ा फल है।

मित्रता का यह वर्णन अब इसी स्थान पर समाप्त होता है, केवल धूर्तों और सच्चे मित्रों के पहचानने की कुछ युक्तियां यहीं और लिखी जायँगी। मनोरंजक ऐतिहासिक उदाहरणों से यह भाग कुछ चटकीला और साहित्यपूर्ण हो सकता था, किंतु दार्शनिक ग्रंथ में साहित्य गरिमा लाने के प्रयत्न से हम उसे दीर्घकार्य नहीं किया चाहते।

चापलूसों और मित्रों का अंतर इस अध्याय के आदि भाग में भी रक्खा जा सकता था, किंतु उसके एक प्रधान विषय होने के कारण उसे यहाँ रखना शायद कुछ अधिक प्रभावोत्पादक हो। उपर्युक्त अंतर हमें इस प्रकार समझ पड़ते हैं—

(१) चापलूस अपने सिद्धांतों की कुछ भी परवाह किए बिना आपके सभी विचारों से सहमत होगा, किंतु मित्र ऐसा नहीं करेगा।

(२) चापलूस एक सिद्धांत पर न चलकर पृथक् पृथक् समयों में आप के विपरीत विचारों का भी समर्थन करेगा, जो बात मित्र से न होगी।

(३) चापलूस आप की उचित से अधिक प्रशंसा करेगा, यहाँ तक कि आपके साधारण कथनों को भी सातवें आसमान पर चढ़ा देगा।

(४) यदि आपकी किसी सच्चे मित्र अथवा कुटुंबी से मन-मैल हुई, तो चापलूस उसे और भी बढ़ाने का प्रयत्न करेगा।

(५) जब आप को चापलूस की सहायता की आवश्यकता न होगी, तब वह सहायता करने की परम प्रगाढ़ इच्छा प्रकट किया करेगा, किंतु समय पर झट निकल जायगा। कहा भी है—

तुलसी सम्पति के सखा परत विपति में चीन्हि।
सज्जन सोना कसन विधि विपति कसौटी दीन्हि॥
रहिमन विपदाहू भली जो थोरे दिन होय।
हित अनहित या जगत में जानि परत सब कोय॥

इस विषय में एक बात का सदैव ध्यान रखना परमावश्यक है कि हमें अपने मित्र से कभी ऐसी सहायता की आशा न रखनी चाहिए जो स्वयं हम काम पड़ने पर कदा-

चित उसे न देते। मित्रता की वे उच्च परीक्षाएँ, जिनका वर्णन यत्र तत्र पाया जाता है, किसी साधारण मित्र के लिये व्यवहृत करना और फिर उसे व्यर्थ ही बदनाम करना तथा दूषण लगाना अनुचित है। सौ में प्रायः ९९$\frac{1}{2}$ "मित्र" आप के केवल जान पहचानवाले होते हैं, न कि वास्तविक मित्र। उनसे कोई बड़ी आशा रखना मूर्खता की बात है। इनके अतिरिक्त जो आप के दो चार वास्तविक मित्र भी हों, उन तक से उचित सहायता मात्र पाने की आप आशा रख सकते हैं, न यह कि वे आप के लिये अपना तन मन धन अर्पण करते फिरें। यदि इन बातों पर विचार रक्खा जाय, तो संसार में आशा-भंग के कुछ कम उदाहरण मिलेंगे।

छठा अध्याय

संग

मनुष्य को प्रकृति ने एक सभ्य जीव बनाया है। वह स्वभावतः संग ढूँढ़ता है। संग दो प्रकार से प्राप्त होता है, अर्थात् एक भाग्यदत्त और दूसरा स्वयं अर्जित। बहुतों का विचार है कि मनुष्य दशाओं द्वारा रचा गया है; अर्थात् जैसी अवस्था और संगति में वह रहता है, वैसा ही हो जाता है। दो एक दार्शनिकों का यह भी कथन है कि मनुष्य दशाओं का कर्म नहीं, वरन् कर्ता है; अर्थात् अपने इच्छानुसार वह जैसा संग चाहता है, वैसा प्राप्त कर सकता है। ये दोनों सिद्धांत कुछ कुछ दशाओं में ठीक हैं। जहाँ तक संग भाग्यदत्त है, वहाँ तक मनुष्य के शील स्वभाव उसके फल हैं। उधर स्वयं अर्जित संग के जो प्रभाव मनुष्य पर पड़ते हैं, उनका उत्तरदायित्व उसी पर है। मनुष्य किसी कुटुंब में उत्पन्न होता है और दस बारह वर्षों तक अवश्यमेव उसमें रहता है। इस अवस्था में चिर काल पर्य्यंत उसे सत्संग अथवा कुसंग मिलता है, किंतु न इस पाने का उसने कोई प्रयत्न ही किया था और न इससे वह बच सकता था। इसलिये हम इसे भाग्यदत्त संग मानते हैं।

भाग्यदत्त संग का प्रभाव स्वयं अर्जित संग पर पड़ता है, क्योंकि भाग्यदत्त संग से मनुष्य की जैसी प्रकृति हुई है,

उसी के अनुसार वह साधारणतया आनेवाले संग का कांक्षी होगा, अर्थात् वह जैसा है, वैसा ही संग आगे भी ढूँढ़ेगा। जहाँ तक भूत-संग भविष्य-संग पर अपना प्रभाव डालता है, वहाँ तक, और केवल वहीं तक, मनुष्य दशाओं का फल कहा जा सकता है। साधारण प्रकृति के मनुष्यों में यह प्रभाव कुछ विशेष बलशाली होगा; किन्तु जिनमें कुछ भी मस्तिष्क-प्रबलता है, वे नूतन विचारोत्पादन एवं सुसंग प्राप्ति में भाग्य-दत्त संग द्वारा वंचित नहीं रक्खे जा सकते। मनुष्य का यही गुण उसमें उत्तरदायित्व बढ़ाकर उसे अपनी दशा का कर्त्ता बनाता है।

मनुष्य को दो प्रकार का संग प्राप्त है, अर्थात् मनुष्यों और पुस्तकों का। सत्संग श्रेष्ठतम गुरु है। इससे अच्छी शिक्षा मनुष्य को कहीं से भी नहीं प्राप्त हो सकती। इसलिये उसे उचित है कि अच्छे से अच्छे मनुष्यों और पुस्तकों का संग प्राप्त करे। जो जैसे लोगों और ग्रंथों का संग रखता है, वह वैसा ही हो जाता है। वरन् यों कहें कि मनुष्य जैसा होता है, वैसा ही संग ढूँढ़ता है। उसका स्वभाव सदा उसके संग से जाना जा सकता है। प्रकृति से ही मनुष्य अनुकरणशील है। इसलिये अच्छे संग में रहने से वह संगियों के सद्गुण प्राप्त करता हुआ दिनों दिन उन्नति करता जाता है। किंतु कुसंग में पड़ने से उसमें क्रमशः दुर्गुणों की वृद्धि होती है। यह एक प्राकृतिक नियम है कि मनुष्य जिस बात को बहुत देखता है, उसे वह साधारण समझने लगता है और इस प्रकार वेही कर्म्मसमुदाय उसके साधारण कार्यों में प्रविष्ट भी हो जाते हैं। यदि कोई कुसंगति में पड़ा, तो

बुराइयाँ देखते देखते वह उन्हें साधारण समझने लगता है; और चाहे इनसे पहले घृणा भी रखता हो, किंतु धीरे धीरे घिसती हुई वह घृणा लुप्तप्राय हो जाती है। संसार उन्नतिशील है। प्रत्येक मनुष्य जिस गुण अथवा अवगुण को ग्रहण करता है, उसे दिनों दिन बढ़ाता ही जाता है। इसलिये कुसंग में पड़ने से मनुष्य पहले छोटी छोटी बुराइयों को साधारण समझता है; और जब वे बुराइयाँ इस प्रकार उसकी प्रकृति में मिल जाती हैं, तब वह उनसे कुछ बड़ी बुराइयों को भी साधारण समझने लगता है और वे भी उसकी प्रकृति में मिलने लगती है। इसी प्रकार क्रमशः बड़ी से बड़ी बुराई उसे साधारण समझ पड़ती है और उसकी प्रकृति का अंग बन जाती है। एक बार एक महाशय ने, जो कभी कोई नशा नही खाते थे, अपने ग्रामवासी एक अफ़ीमची से कहा कि अफ़ीम तो हर प्रकार से हानि हो पहँचाती है; तब तुम उसे क्यों खाए जाते हो, छोड़ क्यों नहीं देते? अफ़ीमची साहब, जो स्वभावशः अफ़ीम का खाना बहुत ही साधारण समझते थे, बोले—"ददुआ! साँची कहियो। भला कौन अफ़ीम नाईं खाति है? का हम ही खाइयति है? आजु दुनियाँ अफ़ीम खाय रही है। का ददुआ, तुम नाहिं खाति हो? तुम अमीर हो, तुम्हारी छिपी है; हम गरीब हितु, हमारी नाईं छिपति है। हमारे मुँह माँ माछो भन्न मचौती हैं। तुम गिज़ा उड़ावति हौ, तुम्हारो चेहरा दमकि रहो है।" वे अफ़ीम का खाना ऐसा साधारण समझते थे कि उनके विचार से सभी लोग उसे खाते थे।

इसी भाँति सत्संगति से मनुष्य की प्रकृति दिनों दिन

उच्च होती जाती है। जैसे कुसंगति से वह एक के पीछे एक बुराई को साधारण समझता हुआ अपनी प्रकृति का अंग बनाता जाता है, वैसे ही सुसंग से वह क्रमशः उत्तरोत्तर भलाइयों को साधारण समझता हुआ अपनी प्रकृति का अंश बनाता हुआ उत्तरोत्तर उन्नति करता है; जिससे उसकी प्रकृति दिनों दिन परिष्कृत होती जाती है। जिन भलाइयों का करना वह अनुभव के अभाव से असाधारण एवं कठिन समझता था, उन्हें भी अपने से उच्च प्रकृतिवाले मनुष्य को साधारणतया करते देख स्वयं भी करने लगेगा। इस प्रकार अच्छे एवं बुरे व्यवहार स्वयं तो भले या बुरे हैं हीं, किंतु उदाहरण द्वारा संसार में उन गुणों एवं अवगुणों की वृद्धि करके और भी पूज्य अथवा गर्हित हो जाते हैं, क्योंकि मनुष्य का प्रत्येक कर्म उससे निर्बल प्रकृतिवाले मनुष्य को तदनुसार कर्मसमुदाय की ओर न चाहते हुए भी खींचता है। इसी से महात्मा तुलसीदास जी ने आज्ञा दी है कि—

को न कुसंगति पाइ नसाई।
रहै न नीच मते गरुआई॥
सतसंगति मुद मंगल मूला।
सोइ फलसिधि सब साधनफूला।
सठ सुधरहिं सतसंगति पाई।
पारस परसि कुधातु सोहाई॥

इसी प्रकार गीता में भगवान् श्रीकृष्ण ने आज्ञा दी है—"हे अर्जुन! तीन लोक में मुझे कुछ भी कर्त्तव्य नहीं है। कोई वस्तु ऐसी नहीं है, जो मैंने प्राप्त न कर ली हो अथवा न कर सकता हूँ; किंतु फिर भी मैं कर्मों ही में वर्त्तमान हूँ। यदि

मैं ही आलस्य को छोड़कर अच्छे कर्मों में न लगूँ, तो हे पार्थ! सब मनुष्य मेरे ही मार्ग में लग जायँ अर्थात कर्म छोड़ दें। यदि मैं कर्म न करूँ तो सब लोग (उदाहरण के अभाव से) भ्रष्ट हो जायँ। इस दशा में मानों मैं ही वर्णसंकर का करनेवाला और सब मनुष्यों का विनाशक हूँ"

उपर्युक्त कथन में भगवान ने उदाहरण की महिमा दिखलाई है। यही उदाहरण का सिद्धांत संगभव गुण दोषों का मूल कारण है। सत्संगति भी अनेक प्रकार की होती है। मनुष्य को जिस गुण विशेष की वृद्धि अपने में करनी अभीष्ट हो, उसी प्रकार के गुणियों का संग उसके लिये सुसंग होगा। संग में दो भाव प्रधान हैं। जो मनुष्य सभा सोसाइटियों अथवा साधारण मेल मिलापों में भी अधिक बोलने का उत्सुक रहता है, वह मानों गुरु भाव से संग ढूँढ़ता है, अर्थात् शिष्य पाने का आकांक्षी है। उधर जो पुरुष बोलता कम और दूसरों की सुनता विशेष है, वह मानों शिष्य भाव से संग में प्रवेश करता है। अपने अनुभव एवं ज्ञान द्वारा प्राप्त विचारों का जो जितना कथन करता है, मानों वह औरों को उतनी ही शिक्षा देता है। इसलिये प्रत्येक पुरुष का पवित्र कर्त्तव्य है कि गुरु का कार्य्य उठाने के पूर्व सोच ले कि उसके उपदेश कैसे हैं। प्रगलभता अनुचित उदाहरण दिखलाती है और वक्ता की मूर्खता भी प्रकट कर देती है।

इन्हीं उपर्युक्त विचारों से प्रत्येक मनुष्य का धर्म है कि वह समाज में तभी बोले, जब बोलना न बोलने से श्रेष्ठ हो, अर्थात् जब उसका कथन दूसरों के लिये शिक्षाप्रद अथवा हितकर हो। समाजों में बहुधा देखा गया है कि

प्रत्येक मनुष्य इस बात का समय ढूँढ़ा करता है कि कब मौक़ा पाऊँ और अपनी बात कह दूँ। प्रत्येक जन-समुदाय में दो चार ऐसे बकवादी होते हैं कि अपनी धृष्टता के कारण अपनी ही अनर्गल बातें बके चले जाते हैं और दूसरों को कुछ कहने का समय ही नहीं देते। ऐसे मनुष्यों को अपनी मूर्खता पर लज्जित होना चाहिए, किंतु वे समाज का समय नष्ट करने से इतने प्रसन्न होते हैं कि अपने कथनों का अर्ध काल यदि बात चीत में लगाते है, तो शेषार्ध हँसने में। मूर्ख के लिये प्रगल्भता एक बहुत बड़ा दूषण है, क्योंकि इससे उसकी मूर्खता का प्रकाश बहुत अधिकता से होता है। मौन मूर्खों का बहुत बड़ा अवलंब है, क्योंकि इस प्रकार शिष्य भाव ग्रहण करने से वह समाजों में औरों के कथनों द्वारा कुछ तो ज्ञान वृद्धि अवश्य ही करेगा। यह बात हमारे अनुभव में भी बहुत अधिकता से आई है। कहा भी है कि—

"विभूषणं मौनंमपंडितानाम्"।

और भी—

"निज मन मैं अनुमानि मौन विधि भलो बनायो।
यामैं गुप्त रहस्य अमित रचिकै सुख पायो॥
अलप छंद मैं कहौं कहाँ लगि तव करतापन।
मूरखता को वेष मनो विरच्यो यह ढापन॥
जहँ सब गुनमंडित अतिविशद वर बुधिवंत समाज है।
तहँ अज्ञानिन के हेत यह भूषण परम दराज है॥

ध्यानपूर्वक देखने से प्रकट होगा कि मौन केवल मूर्खों का भूषण ही नहीं है, वरन् उन विद्वानों के लिये भी परमा-

वश्यक है जो अपनी विद्या और अनुभव को दिनों दिन वर्धमान करने के उत्सुक हैं। पृथ्वी निर्बीज नहीं है और सभी प्रकार के अच्छे से अच्छे गुणी इसमें वर्तमान हैं। अतः संग समाजों में भी एक से एक बढ़कर गुणी मिलते हैं, किंतु वे अपने कथन सुनाने के लिये मूर्खों से होड़ लगाना पसंद नहीं करते। यदि लोग उनके उच्च विचार सुनने के उत्सुक हों, तो उनसे अवश्यमेव लाभ उठा सकते हैं; क्योंकि—

गूढ़ौ तत्व न साधु दुरावहिं।
सज्जन उपकारी जब पावहिं।

एक यह भी ध्यान देने योग्य बात है कि प्रगल्भ पुरुष सत्यवादी नहीं हो सकता। उसके मुँह से न चाहते हुए भी बहुभाषिता के कारण झूठ कथन निकल जायगा। बक्की मनुष्य अपने ध्यान को एकाग्रता से शुद्ध करने में बहुधा असमर्थ रहेगा। इसी लिये हमारे यहाँ अनेकानेक ऋषिगण मौन-व्रत धारण करते थे और अब भी करते हैं। पाश्चात्य देशों में भी क्वैकर नामक एक संप्रदाय है, जिसका यह विश्वास है कि यावज्जीवन कोई भी अनावश्यक कथन कभी न किया जाय। ये लोग सत्यता पर इतना अधिक ध्यान रखते हैं कि अटकल से कोई बात कहते ही नहीं, क्योंकि उसके असत्य होने का भय है। यदि पाँच बज कर ५८ मिनट हुए हों और समय पूछने पर कोई छः बजे बतलावे, तो क्वैकर कह देगा कि यह कथन अशुद्ध है; क्योंकि छः बजने में दो मिनट शेष हैं। क्वैकरों की धर्म्मसभा होने पर किसी प्रकार का कोई

व्याख्यान आदि नहीं होता। सैंकड़ों मनुष्य एकत्र होकर अपने प्रकार से ईश्वर का चिंतन आदि करते हैं, लेकिन मुख से प्रायः कोई एक शब्द भी नहीं निकालता। यदि किसी को बड़ा ही धार्मिक उद्वेग आया, तो शायद कभी दो एक बातें कह दी गईं। क्वैकरों की सभाओं मे बहुधा मौन-भंग नहीं होता।

समाजों में जो मन में आवे, वही अनाप शनाप बक डालना मूर्खता की पराकाष्ठा है। विद्वत्तापूर्ण एवं समयानुकूल बात चीत करने की शक्ति बहुतों के पास नहीं होती। सभा-चातुर्य्य एक बहुत बड़ा गुण है। बात चीत करने में वैविध्य की बड़ी आवश्यकता है। जो मनुष्य सभी प्रकार के उचित वार्त्तालापों में वास्तविक अनुरक्ति प्रकट कर सके, वह सभी प्रकार के समाजों में सत्कारित होगा और सब से प्रसन्नता लाभ कर सकेगा। अधिकता से समाजों में ऐसी बात कहना उचित है कि जिससे उस स्थान में एकत्र अधिकांश लोग अनुरक्त हों। किसी का समय नष्ट करने का कोई पुरुष अधिकार नहीं रखता। यदि आप समाज में कोई ऐसी बातें कहें जिनसे अधिकांश लोगों को उदासीनता हो, तो भी यदि वे सभ्य हैं, तो वहाँ से उठ न जायँगे। न केवल इतना वरन् सज्जनता के कारण शील संकोचवश उन्हें सभ्यता के नियमानुसार आप के कथनों में ध्यान भी लगाना होगा। फिर आप ही सोचिए कि इतने लोगों के समय नष्ट करने का आपको कौन सा प्राकृतिक अधिकार है? अनुचित हानि एवं लाभ से मनुष्य को सदैव बचना चाहिए।

दूसरे को अनुचित हानि पहुँचाना भी सर्वतोभावेन तिरस्करणीय है। प्रायः देखा गया है कि साधारण मनुष्य अपने ही पेशे की बात चीत समाज में छेड़ते है। इसको अंग्रेज़ी में "Shop-talk" (दूकानदारी की बात चीत) कहते हैं। इसका चलाना मनुष्य की प्रचंड मानसिक दुर्बलता का बोधक होता है और दिखलाता है कि ऐसा मनुष्य तेलीवाले बैल के समान कोल्हू की कोठरी के बाहर नहीं निकल सकता। प्रायः सभी बातों में अनिवृत्य त्याज्य है। किसी को यह अधिकार नहीं है कि सभ्य समाज में भी कथनों द्वारा मानों अपनी दूकान खोल दे। बहुत से लोग समाज में भी मानों दूसरों के दोष निरीक्षण करने ही को जाते हैं। सभी को अश्लाघ्य समझनेवाला मनुष्य बड़ा ही पोच होता है। गुण दोष सब में होते हैं, किंतु दुष्ट लोग कौवों के समान घर के श्रेष्ठतर भागों को छोड़ जाज़रूरों ही पर बैठने की पात्रता रखते है। दुष्टों का यह एक बड़ा चिह्न है कि वे दूसरों के गुणों के लिये ऐसे ही अंधे होते हैं जैसे कि अपने अवगुणों के लिये। कहा भी है कि दुष्ट पुरुष दूसरों के सरसों बराबर दोष देखता है, किंतु अपने बड़े से बड़े दोषों तक को देखता हुआ भी नहीं देखता। यदि किसी में दूषण हो भी अथवा वह अनुचित कथन करे, तो भी बात बात में प्रतिकूलता करने की आदत घृणास्पद है। सभ्य लोग अनावश्यक प्रतिकूलता करते ही नहीं; और जहाँ आवश्यकतावश उन्हें प्रतिकूलता करनी ही पड़ती है, वहाँ भी इस सुन्दरता से कथन करते हैं कि चित्त प्रसन्न हो जाता है। सभी बातों को मान लेना झुठाई का बढ़ाना है और अनुचित प्रति-

कूलता घृणास्पद है; इसलिये सुधी पुरुष मध्य वृत्ति ग्रहण करते हैं। कहा भी है—

साँधु प्रिय मुनि प्रिय बानि को कथनहार परम प्रवीण मन माहिं मोद पाये है।

इन विचारों से विवाद संबंधी सभाओं का कोई सरोकार नहीं है। वरन् ये साधारण सभ्य समाजों के विषय में कथन किए गए हैं। जो स्थान विवाद आदि के लिये नियत है, उसमें युक्तियुक्त प्रतिकूलता अवश्य करनी चाहिए। फिर भी तर्कहीन प्रतिकूलता कहीं शोभा नहीं पाती। यदि अनुचित प्रतिकूलता एवं अनुचित भोलेपन को छोड़कर कोई मनुष्य अपने चिन्हारियों और मित्रों की शुद्ध मानसिक समीक्षा करता जाय, तो ज्ञात होगा कि प्रत्येक साधारणतया शिक्षित पुरुष भी एक अच्छे ग्रंथ के समान ज्ञानदायक है। यदि मनुष्यों को पुस्तक मानकर उन्हें पढ़िए तो विदित होगा कि वे पुस्तक से अधिक लाभदायक हैं। पुस्तक में जितने विचार अंकित हैं, वे ही हैं। आपके संदेह निवारण के लिये ग्रंथ एक अक्षर भी न्यूनाधिक न कहेगा। इधर व्यक्ति अनेकानेक तर्क वितर्कों से अपना मत पुष्ट कर देगा और यथासाध्य आपके संदेह भी दूर करेगा। यदि वह सज्जन है तो उसके कर्म्मों और कथनों में समानता होगी। इस प्रकार उससे उच्च सिद्धांतों की शिक्षा न केवल कथनों द्वारा वरन् उदाहरण द्वारा भी आप को प्राप्त होगी। अंग्रेजी में एक कहावत है कि यदि मुझ से स्नेह मानना चाहते हो, तो मेरे कुत्ते से भी मानो। इस कथन को शुद्ध प्रकार से एक पाश्चात्य

ग्रंथकार ने यों लिखा है कि यदि आप मेरे मित्रों और पुस्तकों से स्नेह मान सकते हैं, तो मुझ से अवश्य मानेंगे। जो मेरी पुस्तकों को प्यार कर सकेगा, उसके विचार मेरे विचारों के समान अवश्य होंगे। ऐसी दशा में मानसिक भाव से वह पहले ही से मेरा मित्र है। संसारिक मनुष्यों में कोई पूर्णतया अच्छा या बुरा नहीं होता। अच्छे से अच्छे लोगों में भी दो चार दोष निकल आते हैं और बुरे से बुरे में भी दो चार गुण होते हैं। इसलिये समीक्षा करनेवाले को बहुत सजग रहकर उदाहरणों के कर्मों से भलाई या बुराई की शिक्षा लेनी चाहिए। चाहे जहाँ हो, अमृत अमृत ही है और विष विष ही।

जो लोग सामाजिक जीवन अधिकता से पसंद नहीं कर सकते, वे बहुधा पुस्तकों का संग पसंद करते हैं। मित्रों एवं पुस्तकों के चुनाव में सदा गुण गौरव की ओर ध्यान रखना चाहिए। स्मरण रहे कि जो मित्र अथवा पुस्तक आप के विचारों को उच्चतर कर सकती है, वही आप के लिये योग्य है। पुस्तकें ऊँचे से ऊँचे मानसिक विचारों एवं कर्मों का दृश्य हमारे सामने उपस्थित करती हैं। उनमें मन लगाने से मनुष्यों में उन्नत भावों एवं आत्मनिर्भरता की अवश्यमेव वृद्धि होगी। कहा भी है—"पुस्तको भवति पंडितः"। जो लोग समाज में बहुत नहीं रहते, वे पुस्तकों ही के प्रभाव से आत्म-निर्भरता-युक्त होते हैं। सामाजिक व्यवहारों में जो समय लगता है, उसे वे बचा लेते हैं; और यदि चाहें तो उसका प्रयोजन अनेकानेक सद्विषयों की ज्ञान-वृद्धि में कर

सकते हैं। इतिहास हमको बतलाता है कि ऐसे ही लोगों ने अनेकानेक नूतन आविष्कार अन्वेषणादि और किए हैं।

संसार में सभी के लिये संग आवश्यक नहीं है। कहा भी गया है कि एकांत महापुरुषों का पोषक एवं क्षुद्र जनों का शोषक है। अपढ़ मूर्खों का चित्त एकांत में लग ही नहीं सकता; क्योंकि विचार बलातीत होने से उनके लिये दूसरों का आश्रय आवश्यक है। महापुरुष एकांत में होने से भी संगहीन नहीं होते; क्योंकि उनके विचार ऐसे प्रबल एवं दृढ़ हैं कि उनका अस्तित्व संगियों के अस्तित्व के समान हो जाता है। उधर क्षुद्र प्रकृतिवाले जीवों के विचार ऐसे शिथिल होते हैं कि उनका होना न होना बराबर है। इसलिये एकांत में पड़ने से वे वस्तुतः संगहीन हो जाते हैं और उन का चंचल मन वायुमंडल में धावा मारता हुआ उन्हें कल से बैठने नहीं देता।

जो लोग समाज में जितना ही बड़ा पद भोगते हैं, उनका प्रभाव समाज पर उतना ही अधिक पड़ता है। कहा भी है—"यथा राजा तथा प्रजा"। इसलिये जिसका जितना पद है, उसका उदाहरण संबंधी उतना ही बड़ा उत्तरदायित्व भी है। हर्ष का विषय है कि पाश्चात्य उन्नत देशों ने इस समय आत्मनिर्भरता के विचारों का ऐसा पुष्टीकरण किया है कि वहाँ राजा का भी अनुचित प्रभाव नहीं पड़ता; यहाँ तक कि "यथा राजा तथा प्रजा" के स्थान पर वहाँ "यथा प्रजा तथा राजा" की कहावत प्रचलित है। हमें भी उचित है कि आत्म-निर्भरता को उन्नत करके भारी से भारी अनुचित

उदाहरणों से भी अपना आचार भ्रष्ट न होने दें। कुसंग महा प्रबल सिद्धांतों का कुछ भी नहीं कर सकता। यथा—

"बिधि बस सुजन कुसंगति परहीं।
फणिमणि सम निज गुण अनुसरहीं।"

फिर भी यथासाध्य—

होत अकारथ लखहु काल निज लोगन संगा।
भूलिहु तिनको करहु कबहु जनि संग अभंगा॥

सातवाँ अध्याय

अध्ययन

अध्ययन जन्म से प्रारंभ होता है। बालक जन्म से एक ऐसी जगह आ जाता है कि जहाँ का वह कुछ भी नहीं जानता। उसको इतना भी बोध नहीं होता कि आग जलाती है और साँप काटता है। धीरे धीरे अनुभव द्वारा वह अपना ज्ञान बढ़ाता जाता है, यहाँ तक कि समय पर बिना एक अक्षर भी पढ़े वह संसार की सभी साधारण बातें जान जाता हैं। यह सब ज्ञान-प्राप्ति एक प्रकार से अध्ययन ही है। अध्ययन शब्द "ध्यै" धातु से निकला है, जिसका प्रयोजन अनुभव द्वारा प्राप्त ज्ञान से है। यह अनुभव चाहे अपना हो चाहे पराया, किंतु दोनों द्वारा प्राप्त ज्ञान को अध्ययन ही कहेंगे। अपने अनुभव द्वारा प्राप्त ज्ञान कुछ विशेष चिरस्थायी एवं लाभकारी होता है। किंतु यदि मनुष्य सारा ज्ञान अपने ही अनुभव द्वारा प्राप्त करे, तो उसके ज्ञान की मात्रा बहुत ही सीमा-संकुचित रहेगी। संसार में ज्ञेय वस्तुएँ प्रायः अनंत हैं और मनुष्य का अनुभव एवं समय बहुत ही थोड़ा है। फिर यदि सभी लोग अपने ही अनुभवों द्वारा ज्ञान प्राप्त करें, तो संसार मे ज्ञान-वृद्धि बहुत कम हो। यहाँ तो ज्ञान-प्राप्ति के प्रयत्न को जहाँ से एक छोड़ता है, वहीं से प्रारंभ कर के दूसरा उसे उसके आगे ले जाता है; और इस प्रकार सहस्रों

मनुष्यों द्वारा प्रत्येक विभाग में अनंत ज्ञानवृद्धि होती है। फिर भी केवल दूसरों का अनुगामी पूरा पंडित नहीं हो सकता। पांडित्य के लिये आत्मानुभव, आत्म-निर्भरता और स्वतंत्रता की भी आवश्यकता पड़ती है।

मनुष्य के वश में राज्य, प्रचुर धन, महा बल आदि प्राप्त करना सदैव नहीं है। इनके लिये भाग्य एवं आकस्मिक घटनाओं की भी आवश्यकता है। इधर पांडित्य का प्राप्त करना बहुत करके प्रत्येक मनुष्य ही पर निर्भर है। कहते ही है कि इसके लिये राजाओं के वास्ते भी कोई पृथक् मार्ग नहीं है। निरंतर कठिन परिश्रम एवं साधना ही इसका मूल कारण है। परिश्रम मनुष्य के लिये सदैव लाभकारी है। बिना इसके किसी प्रकार का वास्तविक महत्व प्राप्त नहीं होता। परिश्रम से भागना अपने महत्व को लात मारना है। उचित परिश्रम से किसी प्रकार का दैहिक अथवा मानसिक कष्ट नहीं हो सकता। कहते ही हैं कि मनुष्य-बल का सड़ जाना सहल है किंतु घिस जाना कठिन। शक्ति का उचित प्रयोग करने से उसकी दिनों दिन वृद्धि होती है, न कि क्षीणता। हमारे जाने हुए दो विद्यार्थी एक ही कक्षा में पढ़ते और प्रायः साथ ही साथ बैठते थे। उनके निवासस्थान भी एक ही महल्ले में थे; किंतु पढ़ने में एक महाशय अधिक मन लगाते थे और दूसरे कम। जब अध्यापक ने कक्षा की परीक्षा की, तब उनमें से परिश्रमी ने पचास में पैंतीस नंबर पाए और दूसरे ने सात। इस पर अध्यापक महाशय ने उन्हें साथ ही साथ बैठा देखकर सात नंबरवाले से कहा—"क्या इसमें तुम से पँचगुनी बुद्धि है?" फिर उन्होंने आप ही इस प्रश्न

का उत्तर देकर कहा—"तुम दोनों में अंतर बुद्धि का नहीं, वरन् परिश्रम का है।"

बहुत लोग जब चित्त न लगाने के कारण अथवा शिक्षण-प्रणाली में कुछ दोष होने से विद्याध्ययन में समुचित उन्नति नहीं कर पाते, तब समझते हैं कि हमारे पास बुद्धि की मात्रा कम है। यह विचार बहुत दशाओं में भ्रममूलक होता है। भाग्यदत्त बुद्धि की मात्रा विविध मनुष्यों में एकसी नहीं हो सकती। यही दशा स्वास्थ्य आदि की है। फिर भी जैसे आयुर्वेद के नियमों पर ध्यानपूर्वक एवं दृढ़ भाव से चलकर एक साधारण स्वास्थ्यवाला मनुष्य भी परम संतोषदायक उन्नति कर सकता है और अपने से बहुत श्रेष्ठतर ऐसे भाग्य-दत्त शरीरवाले से जो कुपथ्य-सेवी है—बहुत बढ़कर हो सकता है, वैसे ही उद्यमी पुरुष भाग्यदत्त साधारण बुद्धि को क्रमशः बहुत बढ़ा सकता है। वही लोहे का टुकड़ा तलवार बनने से और भली भाँति रक्खे जाने से शीशे की भाँति चमकने लगता है; और वही लापरवाही से रक्खा जाकर मुर्चा खा जाने से कोयले के समान काला और तिनके के समान टूटनेवाला हो जाता है। परिश्रम अध्ययन का जीव है। बिना विद्या-प्राप्ति के मनुष्य और पशु में बहुत कम अंतर रह जाता है। भारी धनाढ्यता मनुष्य को प्रायः आलसी बना देती है। इसी लिये पंडित लोग इसे अध्ययन का सहज शत्रु समझकर इसका निरादर करते हैं।

प्रत्येक मनुष्य में कुछ पशुता भी होती है। अन्य गुणा-वगुणों के समान इसकी वृद्धि अथवा ह्रास भी मनुष्य की

इच्छा ही पर निर्भर है। जो मनुष्य समुचित अध्ययन द्वारा गुणों की उन्नति तथा अवगुणों की अवनति करता है, उसमें इसका ह्रास होता जाता है, अन्यथा नहीं। संभावित पुरुष को उचित है कि यदि वह कोई व्यसन ग्रहण करे, तब भी वह विद्या ही का होना चाहिए। विद्या से यहाँ केवल पुस्तकमय ज्ञान का तात्पर्य्य नहीं है, वरन् सभी प्रकार की ज्ञान-प्राप्ति इस के अंतर्गत आ जाती है। समय का मूल्य बहुत बातों से अधिक समझना चाहिए। बिना समय का उचित प्रयोग किए अध्ययन आदि किसी सद्गुण का साधन नहीं हो सकता। फिर भी शक्ति के बाहर पढ़ना रोगोत्पादक होगा। सभी बातों के लिये समभाव उचित है। वैषम्य सदैव हानिकर है। पढ़ना लिखना, खेलना कूदना, सब कुछ यथासमय करना उचित है। औचित्य का सीमोल्लंघन किसी दशा में भी न होना चाहिए। जैसे अन्य बातों में हम वैविध्यकी प्रशंसा तथा आनिर्वृत्य की निंदा करते आए हैं, वही दशा अध्ययन की भी है। मनुष्य को विविध विषयों में ज्ञान प्राप्त करना उचित है। एक ही बात पर उतारू हो जाना मानसिक उन्नति को रोककर मनुष्य को गूलर के फलवाले भुनगे के समान बना देता है। यथासमय पढ़ना लिखना और खेलना कूदना मनुष्य को पूरा मनुष्य बनाता है। किंतु स्मरण रहे कि जो बात जिस समय की जाय, वह पूर्ण तल्लीनता के साथ हो। पढ़ने के समय खेलना और खेलने के समय पढ़ना बिल्कुल ही भुला देना चाहिए। जब जो कुछ करो, तब उसी में पूर्णतया मन लगाओ। एक कार्य्य करने के समय दूसरे का विचार

भी चित्त में न आना चाहिए। एकाग्र भाव एक बहुत बड़ा मानसिक बल है। यही प्राणायाम का मूल और योग का बंधु है। गीता में भगवान् ने आज्ञा दी है—

"योगः कर्म्मसुकौशलम्।"

अतः कर्म्मों के कुशलता ही योग है। जो काम करे, उसी को पूर्ण उत्साह के साथ करे। जब तक उसे करता जाय, तब तक उससे अप्रसंगी कोई भाव तक चित्त में न उठने पावे। जो इस प्रकार का काम कर सके, वही योगी है। इसी से कहा गया है कि संसार में सच्चे योगी के लिये कोई बात असंभव नहीं है।

संसार में ज्ञान की उत्पत्ति आश्चर्य से है। जब कोई मनुष्य किसी वस्तु, विचार आदि को देखता सुनता है और उसे नहीं जान पाता, तब उसके चित्त में या तो आश्चर्य का भाव उदित होगा अथवा उदासीनता का। उदासीनता के बराबर हानिकारक और कोई भाव संसार में नहीं है। यह विद्या, उन्नति आदि सभी सुगुणों की बाधक है। अज्ञानी के लिये उदासीनता से इधर दूसरा भाव आश्चर्य का है। किसी अज्ञात पदार्थ को देखकर मनुष्य को बहुत कुछ सोचना चाहिए। इसके क्या गुण दोष हैं, यह क्योंकर बना, क्यों बना, इसके अस्तित्व का क्या कारण है, इसके अनस्तित्व से क्या हानि अथवा लाभ है, इत्यादि इत्यादि अनेकानेक प्रश्न प्रत्येक अज्ञात वस्तु क विषय मे उत्पन्न होते हैं। मूर्ख लोग बहुत से पदार्थों को उपहासास्पद समझते हैं।

संसार में कुछ पदार्थ उपहासास्पद भी होते हैं, किंतु बहुतायत से नहीं। बहुत वस्तुओं का बाहरी भाव सहसा हँसने योग्य समझ पड़ता है, किंतु अंदर घुसकर ध्यानपूर्वक देखने से उसी में कर्त्ता का भारी चातुर्य्य दिखाई देने लगता है। इसलिये जो लोग अनेकानेक वस्तुओं को भोंड़ी, बेडौल और निद्य समझते हैं, वे बहुधा ऐसे विचारों से अपनी ही मूर्खता प्रकट करते है। ईर्ष्या, मोह, अहंकारादि के कारण बहुत से लोग परगुण-निरीक्षण में अंध होते हैं। जिस किसी को संसार में अधिकांश लोग एवं पदार्थ अश्लाध्य समझ पड़ें, उसे जानना चाहिए कि स्वयं उसी में कोई दोष है न कि सब पदार्थों मे।

अध्ययन कैसे किया जाय, यह एक चिंतनीय विषय है। अध्ययन एक प्रकार से भोजन के समान है। जैसे बहुत कुछ खा लेने से अपच हो जाता है और कुछ भी न खाने स थोड़े ही दिनों में मरणावस्था उपस्थित होती है, वैसा ही अध्ययन का हाल है। कुछ भी न पढ़ने से मनुष्य पूरा मूर्ख रहता है, और उचित से अधिक ग्रंथावलोकन से वह ग्रथों के भावों का आत्मीकरण नही कर सकता। ऐसे ही लोगों के विचार तथा सम्मतियाँ स्वय उनकी नहीं, वरन् औरों की होती हैं। वे समझते हैं कि हम अपनी सम्मति प्रकट कर रहे हैं;किंतु वास्तव में वे जानते हुए अथवा न जानते हुए दूसरों की चोरी किया करते हैं। उन्होंने इतने पराए विचार अपने में भर लिए हैं कि वे उन पर पूर्णतया मनन कर के उन्हें अपना नहीं बना सकते। फिर भी जब ऐसे विचार-बहुभक्षी लोग पराए सिद्धांतों का अपने कथनों में दूसरे प्रसंग में प्रयोग करते हैं,

तब आत्मीकरण के अभाव से उनका बहुधा दुरोपयोग हो जाता है। ऐसे ही कथनों पर जब अटल तार्किक सिद्धांतों के अनुसार सूक्ष्मदर्शिता से विचार किया जाता है, तब उनका एक एक अक्षर भूसी के समान उड़ जाता है और मन भर के गट्ठर में एक भी अनाज का दाना नहीं निकलता। ऐसे ही विचारों में प्रतिकूलता-पोषण बहुतायत से होता है। जब मनुष्य कोई सारगर्भित नवीन भाव पावे, तब उसे उचित है कि अपने प्राचीन विचार-समुदाय में उस भाव को स्थान देने के पूर्व सोच ले कि वह कितनों के प्रतिकूल और कितनों के अनुकूल पड़ता है। प्रतिकूलता की दशा में दोनों पर ध्यान देकर निर्णय कर लेना चाहिए कि उनमें से कौन ग्राह्य है और कहाँ तक। नवीन और प्राचीन विचारों में थोड़ा सा भी विरोध होने से ध्यानपूर्वक निर्णय करके उनका संशोधन कर लेना चाहिए। जब किसी नए विचार का प्राचीन भाव से मिलान करके पूरा निर्णय होकर एक बात निश्चित हो जाती है, तभी कहा जा सकता है कि नवागत विचार हजम हुआ, अर्थात् अपना हो गया। जो लोग बिना ऐसे आत्मी-करण के नए विचार ग्रहण करते जाते हैं, उनका मानस शरीर बहुभक्षी लोगों की देहों के समान कभी स्वास्थ्ययुक्त नहीं रह सकता। जो लोग अपने प्राचीन विचारों को नवीन भावों की वृद्धि द्वारा दृढ़तर बनाते हुए दिनों दिन उन्नति-शील नहीं रखते, उनका मानस-शरीर दुबला और बलहीन हो जाता है। बहुत से लोग साधारण बातों, व्याख्यानों, एवं ग्रंथनिर्माण द्वारा अपने विचार औरों पर बहुतायत से प्रकट किया करते हैं। ऐसी प्रगल्भता से प्रायः प्रतिकूल विचारों

का पुष्टीकरण हो जाता है और कथनों में सारगर्भिता की मात्रा बहुत कम होती है। उपदेशकों को सन्निप्त गुण का अवश्य ध्यान रखना चाहिए, नहीं तो उनके कथनों में केवल मूर्खमोहिनी विद्या रह जाती है।

अध्ययन दो प्रकार का होता है, अर्थात् साधारण और दैनिक व्यापार संबंधी। यह प्रकट ही है कि मानसिक उन्नति के लिये व्यापारिक शिक्षा से साधारण शिक्षा बहुत श्रेष्ठतर है। फिर भी बिना व्यापारिक शिक्षा के काम नहीं चल सकता। मानसिक उन्नति के प्रतिकूल प्रायः प्रत्येक व्यापार में खास खास बुराइयाँ होती हैं। संभावित को इन पर सदैव ध्यान रखना चाहिए, जिससे कि वह मानसिक उन्नति का अवरोध न कर सके। प्रायः देखा गया है कि जो लोग जिस व्यापार मे पड़ते है, वे अपने आह्निक अवकाश में भी सभा सोसाइटियों में बैठकर उसी की बातें किया करते हैं। इसका उल्लेख "संग" वाले अध्याय में हो चुका है। चतुर मनुष्य को अवकाश के समय में मेडुवा गोजई का भाव न सोचकर, ऐसे विषयों की ओर चित्त लगाना चाहिए, जिनकी उसके व्यापार संबंधी आह्निक कर्त्तव्यों में कोई आवश्यकता नहीं पड़ती। मनुष्यों को अंधवत् एक ही लीक पर अनुगमन करने से बचना चाहिए।

अध्ययन का मूल दो प्रकार का होता है अर्थात् स्वावलंबी और परावलंबी, जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है। स्वावलंबी अध्ययन अपने ही अनुभवों एवं विचारों से प्राप्त होता है और परावलंबी अध्ययन पुस्तकों, गुरुओं और मित्रों आदि पर आश्रित है। स्वावलंबी अध्ययन में ज्ञान-

वृद्धि के लिये कुछ अधिक समय दरकार है, किंतु वह बहुत पक्का होता है। संसारीपन की कार्य्य-कारिणी बुद्धि स्वानुभव से ही विशेषतया प्राप्त होती है और बिना स्वावलंबी ज्ञान के केवल परावलंबी अध्ययन से पूर्ण मानसिक उन्नति नहीं हो सकती। दोनों प्रकार के अध्ययनों में विद्यार्थी को कक्षा विभाग पर विशेष ध्यान देना चाहिए। प्रत्येक वस्तु को ध्यानपूर्वक देखकर अथवा उसके विषय में सुनकर और वस्तुओं से उसकी समता और असमता पर पूर्ण विचार करो। जो वस्तुएं जहाँ तक समान हों उनको जानो, और फिर समान वस्तुओं के सूक्ष्म से भी सूक्ष्म अंतर को बुद्धि-बल से खोज निकालो। प्रकृति ने समानता और अंतर का ऐसा विचित्र बनाव रक्खा है, कि इस पर जहाँ तक मनन करो, वहाँ तक ज्ञान विस्तीर्ण होता जाता है। संसार में अरबों मनुष्य प्रस्तुत हैं, और उनका शरीर सांगोपांग समान है, किंतु फिर भी कोई दो मनुष्य ऐसे न मिलेंगे जिनकी बनावट एक दूसरे से बिलकुल मिलती हो। तत्वज्ञानियों ने ध्यानपूर्वक निरीक्षण द्वारा जाना है कि संसार में प्रकृति जीवधारी की रचनाशक्ति के प्रदर्शन में पुनरुक्ति कभी नहीं करती। यहाँ तक कि कोई दो पत्ती अथवा दूब के पौंड़े तक एक दूसरे से बिलकुल समान कभी नहीं होते। ऐसी समता एवं भिन्नता का ज्ञान भारी सूक्ष्मदर्शिता से ही प्राप्त होता है। इस शक्ति को बढ़ाने के लिये मनुष्य को सभी ठौर समता और भिन्नता पर ध्यान देना चाहिए। अधिक से अधिक पदार्थों को ध्यानपूर्वक देखते जाइए और तब आप की अधिकाधिक ज्ञानवृद्धि होगी। अजायबघर, जंगल, बाग़, मैदान, ग्राम, नगर, पत्तन, झील, समुद्र, नदी, नाले, पहाड़

आदि सभी कुछ ध्यानपूर्वक देखो और विचारो कि किस किस पदार्थ से क्या क्या शिक्षा मिल सकती है। आँखवाले अंधों के समान कभी काम न करो। जहाँ जाओ, दोनों आँखें खोले रहो। किसी वस्तु को देखकर यह सदैव सोचो कि यह ऐसी क्यों है, किसी अन्य प्रकार की क्यों नहीं? इसके रचयिता ने इसे यहाँ किस विचार से रक्खा। रास्ता चलने में भी विचारते रहो कि अमुक पगडंडी की वर्तमान स्थिति उसी प्रकार से उसी स्थान में क्यों हुई। एक छोटा सा कंटकित पौधा भी यदि मार्ग में पड़ जाता है, तो पगडंडी उसके कारण हाथ भर मुड़ जाती है। कोई पथिक साधारण-तया उसे उखाड़कर फेंक सकता है अथवा जूते की ठोकर से कुचल सकता है, किंतु पथिक लोग प्रायः इतना कष्ट उठाते देखे नहीं गए हैं। विदेशों में रेल पर यात्रा करने में अन्य बातों पर उतना ध्यान न देकर मनुष्य को देश की बनक देखनी चाहिए। इससे उस प्रांत के निवासियों के बहुत से स्वभाव सहज ही में ज्ञात हो जाते हैं। सारांश यह है कि यथासाध्य सभी नवीन बातों में तार्किक सिद्धांतों का ध्यान कभी न भूलो। तर्कशास्त्र कोई नवीन बात नहीं बतलाता, किंतु साधारण अनुभवों द्वारा ज्ञानप्राप्ति के उसमें ऐसे सुंदर नियम मिलते हैं, जो नेत्रों को नेत्र और कानों को कान बनाते हैं।

परावलंबी ज्ञान प्राप्ति में पुस्तकों और गुरुओं की प्रधानता है। यदि कोई बात ज्ञात न हो, तो उसके पूछने में कोई संकोच न करो। भगवान् दत्तात्रेय ने मकरी आदि २४ जंतुओं को भी अपना गुरु कर के माना था। गुरुओं एवं पुस्तकों के

कथनों को भी अंधपरंपरा की रीति से कभी न माना। कहा भी है—

नहिं प्रमाण करि श्रवण अंध सम ताकहँ मानो।

ताके कारण खोजि बुद्धि बल सों अनुमानो॥

गुरुओं और पुस्तकों में भी परमोच्च मानसिक उन्नति संयुक्त लोगों एवं उनकी रचनाओं का आश्रय लो। परमोच्च ग्रंथों के भी परमोच्च विचारों पर ध्यान दो। ग्रंथों के पढ़ने में पूर्ण बुद्धि व्यवसाय से काम लेना चाहिए और एक पैंसिल तथा जेबी कोष-ग्रंथ तो ग्रंथ या अख़बारों तक के पढ़ने में अपने पास रखना उचित है। कोष के पास होने से छोटे से छोटा संदेह तुरंत निवृत्त हो जाता है और ज्ञान-वृद्धि में बहुत अच्छी सहायता मिलती है। अंग्रेजी शब्दों में बहुधा अक्षरों और उच्चारणों मे बड़ा अंतर होता है। ऐसी दशा में हम विजातीय लोगो को उच्चारण संबंधी कष्ट से छुटकारा पाने के लिये एक छोटा कोप ग्रथ अवश्य पास लगाए रहना चाहिए। ऐसे ग्रंथ से समय पर बड़ी सहायता मिलती है। पुस्तकाध्ययन में पेंसिल का प्रयोग भी बेधड़क होना चाहिए। कोई नवीन ग्रंथ पढ़ने में जो अपने भाव उठें, उन्हे भी यथास्थान अंकित कर दो। कोई ग्रंथ पढ़कर यह अवश्य निश्चय कर लेना चाहिए कि यह दूसरी आवृत्ति के योग्य है या नहीं। अच्छे अच्छे ग्रंथों की कई आवृत्तियाँ होनी चाहिएँ।

पढ़ने में अपने प्रिय विषय पर विशेषता अवश्य रक्खे, किंतु अन्य विषयों का तिरस्कार कभी न करे। कहा भी है कि विद्वान को कुछ का सब कुछ और सब का कुछ कुछ अवश्य

जानना चाहिए। बिना इसके वैविध्य लुप्त होकर आनिर्वृत्य आ जाता है। मनुष्य को सभाचातुर्य्य और ज्ञानगरिमा वैविध्य से ही प्राप्त होती हैं। अपने ऊपर उचित से अधिक विश्वास और अविश्वास कभी न करे। ये दोनों विफलता के मूल कारणों में से हैं। अपने साधारण अनुभव से हम ऐसे महापुरुषों के चरित्रों से अच्छे उदाहरण प्राप्त कर सकते हैं, वैसे ही जीवनचरित्र भी श्रेष्ठ उदाहरण प्रदर्शन द्वारा हमें भारी लाभ पहुँचा सकते हैं। रामायण और महाभारत में राम और युधिष्ठिर के अतिरिक्त भी बहुत से अच्छे अच्छे उदाहरण मिलते हैं। जीवनचरित्रों में व्यक्तित्व की मुख्यताओं का होना परमावश्यक है, यहाँ तक कि उसमें दोषों का भी कथन होना चाहिए। नहीं तो उदाहरण बहुत ऊँचा उठ जाता है और साधारण मनुष्यों को समझ पड़ने लगता है कि उसका अनुकरण असंभव है।

मनुष्य को किसी न किसी कला का भी पारगामी होना चाहिए। पियानो, हारमोनियम, अलगोजा, सितार, जलतरंग आदि अनेकानेक वाद्य तथा गाना, नाचना आदि बहुत से सामाजिक मनोरंजन हैं। इनमें से कुछ भी न जाननेवाला मनुष्य समाज में आदर नहीं पा सकता। साहित्य का भी जानना बहुत अच्छा होता है। ऋषिवर महात्मा भर्तृहरि ने कहा भी है—

"साहित्य-संगीत-कला-विहीनः
साक्षात् पशुः पुच्छविषाणहीनः।
तृणन्नखादन्नपि जीवमान-
स्तद्भागधेयं परमं पशूनाम्॥

बहुत से लोग हुनर की उन्नति को जातीय अवनति से मिलाकर उसकी निंदा करते हैं। वे लखनऊ और दिल्ली की राजसभाओं को इसका उदाहरण बतलाते हैं। कलाओं से जब इंद्रियलोलुपता मिला दी जाती है, तब ऐसे बुरे उदाहरण देख पड़ते हैं। हुनर की वृद्धि अवश्य करनी चाहिए, किंतु इंद्रिय-संयम पर भी पूर्ण ध्यान रखना प्रत्येक सुधी को उचित है। प्रत्येक मनुष्य के लिये किसी न किसी लक्ष्य का होना आवश्यक है। बिना इसके न तो समुचित उन्नति हो सकती है और न आनंद ही प्राप्त होता है। जो कोई केवल आनंद ढूँढ़ना चाहता है, उसका मनोरथ कभी सफल नहीं होता, क्योंकि मनुष्य के लिये केवल आनंद कुछ है ही नहीं। जिस पदार्थ को पसंद करके मनुष्य उसमें मन लगाता है, उसी की प्राप्ति में आनंद है।

आठवाँ अध्याय

स्वतंत्रता

संसार में स्वतंत्रता सब को प्रिय है और एक प्रकार से सब का इस पर सहज अधिकार है। ईश्वर ने सब को स्वतंत्र उत्पन्न किया है और उसकी प्राकृतिक उदारताओं का लाभ सब लोग सम भाव से उठा सकते हैं। उसने किसी पुरुष विशेष के लिये कोई विशेष वस्तु नहीं बनाई, वरन् सब के लिये सब कुछ बनाया है। भगवान् श्रीकृष्णचंद्र ने निम्न वर्णन में बहुत अच्छा दाक्षिण्य भाव दिखलाया है—

" निज निज रुचि के लेहु चुनि फूल सबै सुखसार।
इमि कहि कान्ह कदंब की हरषि हलाई डार।"

दाक्षिण्य भाव अनेक प्रेमपाशों के समान सत्कार में होता है। यही दाक्षिण्य भाव ईश्वर में सब से अच्छा देख पड़ता है।

आजकल कुछ लोगों ने स्वतंत्रता का विचार बहुत करके राजनैतिक भाव में सीमाबद्ध कर रक्खा है, किंतु ऐसे संकुचन की कोई आवश्यकता नहीं है। राजा के लिये भी दाक्षिण्य भाव आवश्यक है, और इस प्रकार राजनैतिक स्वतंत्रता भी स्वतंत्रता के विषय का एक अंग है-किंतु है वह अंग मात्र ही। हमारा अभीष्ट यहाँ स्वतंत्रता के अंग अथवा उपांग कथन का

नहीं है. वरन् दार्शनिक सिद्धांतों के अनुसार हम इस पूर्ण विषय पर विचार करेंगे। सब को स्वतंत्र होने का सहज अधिकार अवश्य प्राप्त है, किंतु संसार के सभी जीवों को मिलकर शांतिपूर्वक यहीं रहना है। इसलिये यदि प्रत्येक जीवधारी को मनमानी घरजानी का अधिकार मिले, तो संसार थोड़े ही दिनों में नष्ट हो जाय। अतः प्रत्येक मनुष्य की शुद्ध स्वतंत्रता वही है जिससे किसी की उचित स्वतंत्रता में बाधा न पड़े। इस लोक में मनुष्यों से इतर भी असंख्य जीवधारी रहते हैं, किंतु मानसिक उन्नति में सब मनुष्यों से असंख्य गुण पीछे है। उनमें इतनी विचारशक्ति नहीं है कि अपनी एवं दूसरों की स्वतंत्रताओं पर ध्यान देकर शुद्ध नियमों पर चलते हुए संसार की यथोचित उन्नति कर सकें। वे या तो दास भाव से रहेंगे, अथवा शत्रु होकर। स्वतंत्र रहने पर वे निष्कारण भी प्रहार कर बैठते हैं। इसलिये मनुष्यों ने उन्हें दास भाव में रखना उचित समझा है। उनके अधिकारों का इतना ही सत्कार अलम् है कि उनको कोई अनुचित दंड न दिया जाय।

मानुषीय स्वतंत्रता का संसार में विशेष सत्कार है, क्योंकि मनुष्य सब कुछ जानने और समझने के योग्य है। सब की स्वतंत्रता अक्षत रूप से स्थिर रखने के विचार से मनुष्यों ने राजदंड सबधी अनेकानेक नियम, उपनियम बना रक्खे हैं। इनके अतिरिक्त सभ्यतापूर्वक रहने के लिये अनेकानेक अन्य नियमों की भी आवश्यकता है। जो नियम समाज के लिये बहुत ही उत्तम समझे गए हैं, वे अत्यंत दृढ़तापूर्वक स्थापित हैं। उन्हीं को कानून कहते है। अनेका-

नेक देशों में लोगों की उन्नति, सभ्यता, एवं आवश्यकताओं के अनुसार ये नियम कुछ कुछ पृथक् भी होते हैं, किंतु इन सब का प्रयोजन एक ही होता है, अर्थात् यह कि समस्त देशवासी आपस में शांतिपूर्वक रहकर दिनों दिन अधिकाधिक उन्नति करें। वास्तव में ये सब नियम व्यक्तिगत स्वतंत्रता के बाधक हैं; किंतु बिना इनके काम चल नहीं सकता, क्योंकि व्यक्तिगत स्वतंत्रता का उचित से अधिक सत्कार करने से सामाजिक स्वतंत्रता नष्ट होती है।

जो नियम सामाजिक स्वतंत्रता के रक्षणार्थ परमावश्यक हैं, उन्हें कानून अथवा राष्ट्रीय नियम कह सकते हैं। इनके अतिरिक्त प्रत्येक देश अपनी स्थिति, जलवायु, इतिहास आदि के अनुसार खाने पीने, उठने बैठने, मिलने जुलने, धर्म कर्म, रहन सहन आदि के विषय में अनेकानेक नियमोपनियम बनाता है, जिन्हें सामाजिक नियम कह सकते हैं। समाज बहुधा राष्ट्रीय नियमों के प्रतिकूल चलने पर उतना क्रुद्ध नहीं होता जितना कि सामाजिक नियमों की प्रतिकूलता पर। राष्ट्रीय नियम राजा द्वारा घटाए बढ़ाए भी जा सकते हैं, किंतु सामाजिक नियम बहुधा दशाब्दियों वरन् शताब्दियों तक जैसे के तैसे बने रहते हैं। कुछ तो सामाजिक नियम अच्छे होते हैं, किंतु बहुधा वे अनावश्यक भी हैं। कोई मनुष्य गर्मी के महीने में यदि केवल एक महीन कुरता पहनकर समाज में सम्मिलित हो, तो प्राकृतिक नियमानुसार कोई हानि नहीं है। किंतु फिर भी समाज ऐसे मनुष्य को असभ्य कहकर उसका उपहास अवश्य करेगा। यदि वह कहे कि मुझे ऐसा ही वस्त्र पसंद है, तो भी समाज उसे

पागल समझने से न हिचकेगा। वस्तुतः समाज व्यक्तित्व से बे-जाने हुए बड़ी ही विकराल शत्रुता रखता है। ऐसे कपड़े पहनो, इस प्रकार से भोजन करो, यों पूजन उचित है, ऐसे विचार उपहासास्पद हैं, इत्यादि, इत्यादि असंख्य भाव समाज में प्रचलित हैं। उनसे प्रतिकूलता करनेवाला मनुष्य सामाजिक दंड का भागी होता है। बहुत से लोग सामाजिक विचारों का दासत्व सज्जनता का मुख्यांग समझते हैं। उन्हें अपने व्यक्तित्व से हाथ धोने में तनिक भी संकोच नहीं होता। वे नहीं समझते कि समय पर एक पशु भी अपनी स्वतंत्रता दिखलाए बिना नहीं रहता, किंतु वे मनुष्य होकर भी बाबू समाजदास की उपाधि पाने के लिये लालायित हैं।

बहुत से लोग तो ऐसे मूर्ख होते हैं कि किसी के पहनाव ओढ़ाव, रहन सहन आदि में छोटे से छोटा भी परिवर्त्तन देखकर बिना कुछ कहे उन से रहा नहीं जाता। क्यों जनाब ! आपने मोछें क्यों बनवा डालीं ? अहा ! अब तो आपने कलमें बहुत बड़ी बड़ी रखवा लीं ? ओहो, यह दाढ़ी कितनी बड़ी बढाते चले जाइएगा ? जनाब ! आप की चोटइया भी अजब है। कटाओगे भी इसे, इत्यादि, इत्यादि सैकड़ों अनावश्यक प्रश्न तथा कथन समाज में किए जाते हैं। असभ्य पुरुष ऐसे कथनों के साथ बहुत आक्षेप भी मिला देते हैं। यह सदैव स्मरण रखना चाहिए कि स्वतंत्रता मनुष्य का न केवल सहज अधिकार है, वरन् उसकी मानसिक उन्नति के लिये भी परमावश्यक है। बिना स्वतंत्र व्यक्तित्व एवं शुद्धाचरण के कोई जाति सबल नहीं हो

सकती। प्रत्येक सुधी का कर्त्तव्य है कि औरों के अनावश्यक विचारों का लेशमात्र सत्कार किए बिना अपने शुद्ध संकल्पों पर अनुगमन करे। प्रबल स्वातंत्र्य भारी मानसिक बल का एक बहुत अच्छा साक्षी है। शंकर स्वामी, महात्मा बुद्ध, महर्षि दयानंद आदि ने उच्चाशयपूर्ण स्वतंत्रता ही को दिखला कर संसार को पवित्र एवं निष्पाप बनाया था। यदि ये महाशय भी समाजदास होते, तो भारत की आज न जाने क्या दशा होती। समाज का यह प्राकृतिक नियम है कि वह प्रायः प्रत्येक परिवर्तन के प्रतिकूल रहता है। तथापि सुधी पुरुष भली भाँति जानते हैं कि स्थिरता सड़ना है।

यह निर्विवाद है कि प्रत्येक पुरुष बाबा नानक अथवा लूथर नहीं हो सकता। यदि प्रत्येक मनुष्य सहस्रों वर्षों से स्थापित उचित नियमों का साधारणतया उल्लंघन कर सके, तो उच्छृंखलता का दोषी होकर समाज थोड़े ही दिनों में नष्ट हो जाय। फिर भी प्रत्येक मनुष्य का धर्म है कि वह विचारशक्ति का पूर्ण सदुपयोग कर के उसकी दिनों दिन उन्नति करे एवं अशुद्धताओं से बचे। जो लोग अपनी विचारशक्ति से समुचित काम नहीं लेते, वे पशुओं से थोड़े ही अच्छे हैं। विचारशक्ति मनुष्य को व्यवहार ही के निमित्त दी गई है। जो लोग उसका आश्रय न लेकर बिना विचारे दूसरों की अनुमतियों पर गमन करते हैं, वे परावलंबी मूर्ख वृषभ के समान हो जाते हैं जो नाथ के सहारे किसी ओर जोता जा सकता है। नाथ का मुख जिधर करके उन्हें दो चाबुक मार दो, वे बिचारे उसी ओर चल देंगे। उनको इस बात से प्रयोजन नहीं कि आपको कहाँ और कितनी दूर

जाना है। जहाँ तक उनमें बल है, वहाँ तक वे नाथ और कोड़े की आज्ञा मानते हुए चले जायँगे, और जब थकित पराक्रम हो जायँगे, तब चाहे आध मील ही क्यों न चलना शेष हो, वे जुए को फेंककर सड़क पर लेट जाँयगे, और कोड़ों से काट दिये जाने पर भी न उठेंगे। इसीलिये कहा गया है कि जो लोग अपनी सम्मति स्थिर करने का साहस नहीं करते, वे कादर हैं। जो सामर्थ्य होने पर भी सम्मति स्थिर नहीं करते, वे आलसी हैं और जिनमें सम्मति स्थिर करने की सामर्थ्य नहीं है, वे मूर्ख हैं। अतः प्रत्येक पूर्णावलंबी पुरुष इन तीनों उपाधियों में से एक अवश्य पाता है।

देशाचार, कुलाचार, अभ्यास आदि की व्यक्तित्व से सहज शत्रुता है। जिन जातियों का भूतकालिक जीवन गरिमापूर्ण रहा है और जिनमें बड़े बड़े विचारवान व्यक्ति होते आए हैं, उनका सामाजिक जीवन भी उच्च और सहिष्णुतापूर्ण होता है। संसार में सदैव देखा गया है कि बुराई का फल बुराई होती है और भलाई का भलाई। जो जातियाँ जितनी कम विदुषी एवं विचाराश्रयी होती हैं, उनके समाजों में सहिष्णुता की मात्रा उतनी ही कम देख पड़ती है।

हमारे यहाँ बहुधा कहा जाता है कि प्राचीन प्रथा को कभी न छोड़ना चाहिए, क्योंकि क्या हमारे जिन पूर्व पुरुषों न उनकी स्थापना की थी, वे मूर्ख थे? इस कथन की यदि तार्किक सिद्धांतों से समालोचना की जाय, तो इसका कोई भी भाग युक्तिसंगत न ठहरेगा। यह कथन मान लेता है कि हमारे पूर्वपुरुषों ने हम में इस समय प्रचलित प्रत्येक रीति को स्वतंत्रता एवं दृढ़तापूर्वक विचारानंतर बिना किसी

दबाव के उसे लाभदायिनी समझकर सदा के लिये देश में स्थापित कर दिया। जब तक उपर्युक्त सब बातें न मानी जाएँ तब तक किसी प्राचीन रीति को इस समय के लिये अग्राह्य मानने में पूर्वपुरुषों का अपमान नहीं है। फिर भी विचार-पूर्वक देखने से प्रकट होगा कि उपर्युक्त युक्तिसमुदाय में एक भी कथन ठीक नहीं है।

सदा के लिये कोई भी मनुष्य नियम नहीं बना सकता। समय समय पर समाज की आर्थिक, व्यापारिक, मानसिक, राजनैतिक आदि अवस्थाएँ जैसे जैसे बदलती जाती हैं, वैसे ही वैसे उसके लिये नियम-परिवर्तन की भी आवश्यकता होती है। फिर बहुत से आचार किसी समय किसी विशेष आपदा से बचने के लिये मान्य समझे जाते हैं। जब उस आपदा का भय जाता रहे, तब उसी आचार को सत्कारित रखकर हानि सहते जाना अनावश्यक है। इसका उदाहरण हमारे यहाँ स्त्रियों को परदे में रखना है। एक यह भी विचारणीय बात है कि देशाचार को बहुधा कोई व्यक्तिविशेष स्थापित नहीं करता, वरन् समाज की तात्कालिक अवस्था के अनुसार वह सब के द्वारा आप से आप स्थापित हो जाता है। देश-दशा के परिवर्तनों पर आचारों के भी परिवर्त्तन आवश्यक हैं; नहीं तो—

"तातस्य कूपऽयमिति ब्रुवाणाः
क्षारं जलं कापुरुषाः पिबन्ति।"

वाली कहावत चरितार्थ होगी। फिर कौन से पूर्वपुरुषों की बातें मानी जाय? वैदिक कालवालों की, अथवा स्मार्त-

काल वालों की, या पौराणिक समय की या अंधकाराच्छन्न पिछले पाँच सात सौ वर्षवालों की? हमारे सभी समय के सभी पूर्वपुरुषों ने उन्हीं बातों को अच्छा नहीं बतलाया है और न एक ही प्रकार की शिक्षा दी है। इसलिये सभी बातों और उन्नतियों के लिये कुछ आत्मनिर्भरता भी आवश्यक होती है।

सब बातों का तात्पर्य्य यह है कि संभावित को समाज दासत्व एवं उच्छृंखलता से बचते हुए अपने उचित विचारों पर अनुगमन करना चाहिए, और मानसिक बल को तिलांजलि देकर परावलंबन को ही सज्जनता का भूषण समझना उचित नहीं है।

नवाँ अध्याय

कर्तव्य और आज्ञापालन

कर्त्तव्य संसार में सब से अधिक विचारणीय विषय है। प्रत्येक जीवधारी हर समय न चाहते हुए भी कोई न कोई कार्य किया ही करता है। यदि हाथ पैर से कोई काम न करे, तो भी आँख कान आदि से सैकड़ों पदार्थ देख सुन पड़ा करते हैं; और किसी प्रकार से इनके कर्म्मों का अवरोध कर ले, तो भी मन दौड़ा करता है। इसकी चालों के रोकनेवाले संसार मे बहुत कम लोग है। सिवा महान् योगियों के इस की गति कोई नहीं रोक सकता। गीता मे क्या ही ठीक कहा गया है—

मन चंचल बलवान प्रमादी है दृढ़ भारी।
इसका निग्रह गुनो मरुत-बंधन-अनुहारी॥
किंतु किये अभ्यास तथा वैराग्य विधाना।
हो सकता है स्वबस जगतबिजयी जग जाना॥

फिर योगी लोग भी जब तक समाधि लगाए रहते हैं, तभी तक मन का निग्रह कर सकते है, इसके पीछे नहीं। समाधि छोड़ते ही उनका भी मन दौड़ने लगता है। समाधि की अवस्था में भी शरीर में रुधिर सचालनादि की प्राकृतिक क्रियाएँ हुआ करती हैं जिन्हें गीता में 'अकर्म्म' कहा गया है।

अतः प्रकट हुआ कि जीवितावस्था में प्रत्येक शरीरी चाहते अथवा न चाहते हुए सदा कोई न कोई काम अवश्य किया करता है। जब काम का करना अनिवार्य्य है, तब यह जानना परमावश्यक है कि सुधी को कैसे कर्म्म करने चाहिएँ। इसी ज्ञान को कर्त्तव्यशास्त्र कहते हैं। भगवान् ने गीता में क्या ही ख़ूब कहा है—"कोई एक क्षण भी बिना कर्म किए नहीं रह सकता और न चाहते हुए भी प्राकृतिक गुणों से कर्म करता है। इसलिये कर्म, विकर्म और अकर्म सब को जानना चाहिए; क्योंकि कर्म की गति गहन है।"

गीता के अनुसार अकर्म ही विकर्म अर्थात् उचित कार्य्य है। जो काम अपनी कामना-शांति के लिये अथवा स्वार्थवश किया जाता है, वह गीतानुसार कर्म है। इससे इतर कार्य्य अकर्म हैं। यथार्थ में अकर्म ही को कर्तव्य समझना चाहिए, क्योंकि वह प्राकृतिक गुणों अथवा परहित के लिये किया जाता है। धार्मिक संसार मे अधिकार है ही नहीं। वहाँ तो केवल कर्त्तव्य ही कर्त्तव्य है। फिर भी साधारण संसारी मनुष्यों के लिये केवल अकर्म करने से काम न चल सकने की आपत्ति है। इसलिये गृहस्थ लोगों के वास्ते कर्त्तव्यशास्त्र की सीमा अकर्मों से कुछ आगे बढ़ानी आवश्यक है। गीता के अनुसार तो—

यस्य सर्वे समारम्भा काम-संकल्प-वर्जिताः।
ज्ञानाग्निदग्धकर्माणि तमाहुः पंडितं बुधाः॥

(जिसके सब उद्योग स्वार्थ की कामना से मुक्त हैं और जिसके सब कर्म ज्ञानाग्नि में जल गए हैं, उसे पंडित कहते

हैं।) फिर भी पंडित का इतना ऊँचा लक्षण रखकर हम लोगों की संसार-यात्रा नहीं चल सकती। केवल अकर्म से कर्मयोगी का निस्तार हो सकता है, साधारण गृहस्थ का नहीं। इसलिये अब संसारिक विचारों से भी कर्त्तव्य का विचार किया जाता है।

कर्त्तव्य का शाब्दिक अर्थ है करणीय कार्य्य। अतः जो कुछ करने के योग्य है अथवा जिसका करना उचित है, उसी को कर्त्तव्य कहते हैं। मनुष्य के लिये सब से अधिक आवश्यक कार्य्य उचित प्रकार से जीवन-यात्रा करना है। चाहे अपनी इच्छा से हो चाहे पराई से, किंतु किसी प्रकार हम लोग इस पृथ्वी पर अवतीर्ण हुए हैं, अतः हमारा पहला कर्त्तव्य यही है कि जितने दिन मनुष्य उचित प्रयत्न से शरीर धारण कर सकता है, उतने दिन यहाँ सुखपूर्वक बिना किसी को अनुचित कष्ट पहुँचाए रहें। प्रत्येक मनुष्य को अपने वास्तविक कर्म वैसे ही रखने चाहिएँ जैसे कि वह संसार में अपने कार्य प्रकट करना चाहता है। जैसे हम सब लोग चाहते हैं कि लोग हमें सच्चा, निष्कपट, स्वार्थहीन, विद्वान आदि समझें। अतः हमारा पहला कर्त्तव्य है कि अपने में वे सब गुण लाने का प्रयत्न करें कि जिनका अपने में होना हम समाज में दिखलाना चाहते हैं। जो अपने विचार में सच्चा नहीं है, उसे कोई स्वाभाविक अधिकार नहीं है कि दूसरे से अपने को सच्चा कहलाने का प्रयत्न करे। अतः कर्त्तव्यशास्त्र का पहला अंग सत्य है, जिसके बिना कोई मनुष्य बड़ा नहीं हो सकता। बड़ाई दो प्रकार की होती है, एक तो वास्तविक और दूसरी दिखलौआ। वास्तविक प्रकार से वही पुरुष बड़ा है जो बुद्धि-

मान होकर भी अपने में कोई भारी दोष नहीं देखता। अपने लिये सब से अच्छा साक्षी आत्मा ही है। अपने विषय में स्वयं मैं जितना कुछ जानता हूँ उतना और कोई नहीं जान सकता। अतः यदि मैं ही अपने विषय में कोई ऐसी बात नहीं जानता जो मैं स्वच्छंदतापूर्वक समाज में न प्रकट कर सकूँ, तो मेरी महत्ता वास्तविक समझी जायगी, चाहे संसार मेरा रत्ती भर भी सम्मान न करता हो। दूसरा कर्त्तव्य जो बहुत विशद है—उन्नति की इच्छा है। जो मनुष्य उन्नति का उत्सुक नहीं है, वह कभी पूज्य अथवा गरिमापूर्ण नहीं हो सकता। उन्नति के लिये प्रत्येक मनुष्य को अपनी ही समीक्षा बड़ी कड़ी दृष्टि से करनी चाहिए। जब तक कोई पुरुष अपने गुणदोष भली भाँति से न जानेगा, तब तक उचित उन्नति करने में सदैव अशक्त रहेगा। इसी लिये आत्मज्ञान हमारे यहाँ बहुत आवश्यक माना गया है। अपने गुणों तथा दोषों पर संभावित मनुष्य को सदैव पूरा ध्यान रखना चाहिए। गुणदोषों का ज्ञान प्राप्त कर के उसे उचित है कि गुणों की वृद्धि और दोषों की क्षीणता सदैव करता रहे। समुचित उन्नति के लिये प्रत्येक सुधी को उचित है कि अपने गुणदोष, शक्ति, सामर्थ्य आदि पर पूर्ण समीक्षा करके अपने लिये कोई न कोई जीवन-लक्ष्य अवश्य बना ले। बिना लक्ष्य के उसके काम ऐसे ही भद्दे होते हैं जैसे किसी नियत स्थान पर पहुँचने का विचार न रखते हुए मनुष्य का मार्ग में चलना। देखने में तो यह बात बड़ी ही साधारण समझ पड़ती है, किंतु जीवन-लक्ष्य रख कर काम करनेवालों की संख्या संसार में बहुत ही कम है, विशेषतया वर्त्तमान भारत में। इसलिये जीवन-

लक्ष्य पर ध्यान देने की प्रथा बहुत ही आवश्यक समझनी चाहिए। जीवन-लक्ष्य निर्धारित कर लेने के पीछे मनुष्य को उसी के अनुसार विशिष्ट गुणों की उन्नति अपने में करनी चाहिए। संसार में विद्या का भांडार अटूट भरा है। यह कोष व्यय करने से बढ़ता और काम में न लाने से घटता है। प्रत्येक स्थान और समय पर विद्या आने के लिये द्वार पर खटखटाया करती है। जो मनुष्य उस आवाज़ को सुन कर भी कपाट नहीं खोलता, वही विद्या देवी के प्रसाद से विमुख रहता है। समाज में सहस्रों प्रकार के ज्ञानवृद्ध मनुष्य मिलते हैं। वरन् नित्य सब जगह फिरते हैं। जो मनुष्य जिस विषय का ज्ञाता होता है, उसे उससे पूर्ण प्रेम होता है। यदि उससे उस विषय की चर्चा की जाय, तो वह बड़े ही चाव से अपना ज्ञान प्रकट करेगा। इस प्रकार विशेष श्रम किए बिना ही जिज्ञासु सहस्रों विषयों का ज्ञान केवल साधारण समाज से प्राप्त कर सकता है, यदि वह उन विषयों में उन्नति करने की कुछ भी कामना करे। फिर भी लोगों की दशा तेली के बैलवाली प्रायः देखी गई है। वे कोल्हू के वृत्त को छोड़कर कुछ जानना ही नहीं चाहते। यदि किसी ऐसे विषय की बात चीत चले, जिसका उन्हे ज्ञान नहीं है, तो उस मौके को भाग्यदत्त न समझकर यही कह बैठते हैं कि कहाँ की शुष्क विषयों की कोरी बकवाद निकाली। ऐसी चित्त-वृत्ति अपनी उन्नति के मार्ग में काँटे बोने का काम करती है। इसलिये उन्नति में जीवन-लक्ष्य पर ध्यान रखते हुए भी वैविद्धि को हाथ से कभी नहीं जाने देना चाहिए और समाज द्वारा सुगम उन्नति के मार्ग को कभी भुलाना उचित नहीं है।

मनुष्य के लिये प्रत्येक उन्नति का मूल कारण साधना है। बिना इस के उन्नति का होना प्रायः असंभव है। साधना का अर्थ है एक ही लक्ष्य और अविश्रांत परिश्रम। बिना पूर्ण परिश्रम के किसी वस्तु का अच्छा ज्ञान होना कठिन है। दृढ़तापूर्वक परिश्रम करने की इच्छा और शक्ति का ही दूसरा नाम योग्यता है। जो मनुष्य बहुत योग्य क्लार्क है, वह प्रत्येक विषय की सफलता के लिये पहले ही से १०० में ६० अंकों की योग्यता रखता है। बिना घबराए हुए ढंग से काम करने की आदत सभी अवस्थाओं और दशाओं में कार्य्य-कुशलता की साधक है। साधना प्रत्येक प्रकार की अभीष्ट-प्राप्ति की जननी है। साधना वैविद्धि के प्रतिकूल नहीं है, वरन् यही प्रकट करती है कि सब ओर ध्यान रखते हुए भी जिज्ञासु अपने मुख्य विषय से कभी न हटे।

यहाँ तक हमने कर्त्तव्य के लिये सत्यनिष्ठा, उन्नति की इच्छा और साधना की मुख्यता कही है। इन के अतिरिक्त अनेकानेक विषय इस के लिये आवश्यक हैं। यहाँ तक कि पूरा आचारशास्त्र कर्त्तव्य ही के भीतर आ जाता है। तथापि हमारे विचार में उपर्युक्त तीनों बातों की मुख्यता अवश्य समझनी चाहिए। इन तीनों गुणों को ध्यान में रखते हुए जिज्ञासु कर्त्तव्य-मार्ग से विचलित नहीं हो सकता। इन मुख्य सिद्धांतों के पीछे कुछ अमुख्य विषय भी ऐसे हैं जो कर्त्तव्य-परायण मनुष्य के लिये बहुत उपयोगी हैं। इनमें आज्ञा-पालन को सब से पहले स्थान मिलता है। यह एक ऐसा विषय है जिस पर हमारे यहाँ बहुत प्राचीन काल से गड़बड़ होता चला आया है। वेद, शास्त्र, पुराण, पितर,

वयोवृद्ध, कुलवृद्ध, धनवृद्ध, ज्ञानवृद्ध आदि अनेकानेक प्रकार के ग्रंथ और मनुष्य अपनी अपनी आज्ञाएँ प्रचारित कर चुके हैं और कर रहे हैं। ये सब हम से अपनी अपनी आज्ञाओं का पालन कराना चाहते हैं। सब का कथन यही है कि ये आज्ञाएं हमारे ही हित के लिये हैं। किंतु इन आज्ञाओं में स्थान स्थान पर ऐसा विरोध पड़ता है कि इन सब के पालन करने की इच्छा रखनेवाले के लिये भी इनका पालन अत्यंत कठिन है। वेद शास्त्रादि का कथन है कि हमारी आज्ञा न पालने का दंड घोर पातक और समय पर नरकगमन अथवा अन्य कष्ट हैं। समाज अपनी आज्ञा न माननेवाले का सामाजिक बहिष्कार तक का दंड दे सकता है और कभी कभी कुछ काल के लिये देता भी है। इसी भाँति अन्य आज्ञा-भङ्गों के दंड हैं। इधर ईश्वर ने बुद्धि और अनुभव शक्ति काम में लाने ही के लिये दी हैं। यदि इनकी कोई आवश्यकता न होती, तो स्यात् ये हमें मिलतीं ही नहीं। मनुष्य और पशु में इन्हीं बातों का प्रधान अंतर है। जो मनुष्य इन शक्तियों से काम नहीं लेता, वह अपने को पशुओं से बहुत श्रेष्ठतर नहीं रखता। फिर यदि प्रत्येक आज्ञा आज्ञापित्त पुरुष की समीक्षा के अधीन हो जाय तो संसार से अनेकानेक सद्विषयों और उन्नतियों का अति शीघ्र अभाव हो जाना न केवल संभव वरन् निश्चित है। संसार से सारे गड़बड़ों का मिटाने वाला आज्ञापालन का ही नियम है। इसका स्वतंत्रता से सहज विरोध है, किंतु फिर भी बिना इसके कोई भी सद्गुण यहाँ तक कि स्वयं स्वतंत्रता भी संसार में नहीं आ सकती। कहते ही हैं कि जो मनुष्य कभी अच्छा आज्ञा-

कारी नहीं रहा है, वह अच्छा शासक नहीं हो सकता। इन कारणों से इस बात पर विचार परमावश्यक है कि कहाँ तक आज्ञापालन का नियम मान्य है और कहाँ से स्वतंत्रता का साम्राज्य चलता है। कर्त्तव्यशास्त्र के लिये इस अंतर का ज्ञान परमावश्यक है। अतः इस पर भी यहाँ कुछ विचार होगा।

यह बात तो प्रत्यक्ष ही देख पड़ती है कि स्वतंत्रता पर सब जीवधारियों का सहज अधिकार है। किसी को यह अधिकार नहीं है कि निष्कारण किसी पर अपना आतंक अथवा प्रभुत्व जमावे। फिर भी रोगी वैद्य की आज्ञाओं को अपने ही हित के लिये मानता है। वैद्य के आज्ञोल्लंघन से उसकी कोई हानि नहीं है, प्रत्युत् रोगी ही अपनी दशा बिगाड़ता और मरण तक को प्राप्त हो सकता है। बालक पर उसके पिता, पालक, अध्यापक आदि जो आज्ञाएँ चलाते हैं उनसे उनका कोई हानि-लाभ नहीं है, प्रत्युत् उनके न मानने से बालक ही अवनति करेगा और संकट में पड़ेगा। सेनापति अथवा कोई अन्य नेता अपने अधीन लोगों पर जो आज्ञा चलाता है, उससे उन सभों की भी मंगल-कामना तथा संसार-परिचालन का अभीष्ट होता है। नेतागण को आज्ञाएँ प्रचारित करने में इन्हीं बातों पर ध्यान रखना चाहिए न कि आत्मगौरव पर। यहाँ तक आज्ञापालन प्रत्येक मनुष्य का धर्म है और ऐसे आज्ञा-भंग से आज्ञोल्लंघनकारी की कर्त्तव्य-परायणता में क्षति पहुँचती है। अतः आज्ञापालन यहाँ तक उचित स्वतंत्रता का बाधक नहीं है।

इसी प्रकार राजाज्ञापालन भी उचित स्वतंत्रता का

बाधक नहीं है, क्योंकि इसके बिना समाज स्थिर नहीं रह सकता। प्रत्येक आज्ञा या तो स्वाभाविक अधिकार से दी जाती है या क्रीत अधिकार से। स्वामी जो सेवकों पर आज्ञा चलाते हैं, वह इसी मोल लिए हुए अधिकार पर अवलंबित है। जब मैंने अपना समय, पुरुषार्थ आदि बेंच दिया है, तब स्वामी को उसके अर्पण करने में क्या आपत्ति हो सकती है? किंतु वास्तव में यह एक कृत्रिम अधिकार मात्र है और वास्तविक कर्तव्यशास्त्र से इसका बहुत कम संबंध है। स्वाभाविक अधिकारवाली आज्ञाएँ ही प्रधानतया कर्तव्य-शास्त्र में स्थान पाती हैं। इन आज्ञाओं के लिये पहली और परम प्रकृष्ट आवश्यकता यह है कि ये आज्ञाकारी ही के लाभार्थ हों। जब तक कोई आज्ञा इस कसौटी पर कसने से खरी न उतरे, तब तक वह वास्तविक आज्ञा है ही नहीं, वरन् आज्ञा के पवित्र रूप में वह वस्तुतः बड़ी ही गर्हित चोरी है; और ऐसा आज्ञा-प्रचारक, शास्त्रकार, नेता आदि के पवित्र नामों से न पुकारा जाकर पूरा चोर कहलावेगा। ऐसे चोर के आज्ञापालन में पुण्य के स्थान पर पाप और कर्तव्य-निष्ठा के स्थान पर मूर्खता स्थिर होती है। अतः इसका न मानना ही परम धर्म एवम् पक्का कर्त्तव्य है। अतः प्रत्येक आज्ञाकारी का पवित्र कर्त्तव्य है कि आज्ञाओं को शिरोधार्य्य करने के पूर्व इस पर विचार कर ले कि वे इस पवित्र कसौटी पर कसने से अपनी दीप्ति तो नहीं खोतीं। हम सभी लोग हर समय बहुधा साथ ही साथ आज्ञाकारी तथा प्रचारक दोनों होते हैं। ऐसे समयों पर हमें खूब जाँच कर लेनी चाहिए कि हमारी आज्ञाएँ किसी की उचित स्वतंत्रता के

प्रतिकूल तो नहीं पड़ती। बहुत लोगों का कथन रहता है कि शास्त्रीय आज्ञाओं के विषय में हम लोगों को अपनी बुद्धि से काम लेने की आवश्यकता नहीं, क्योंकि इस कराल कलिकाल में हमारी बुद्धि का ऐसा ह्रास हो गया है कि वह उतनी ऊँचाई तक पहुँच ही नहीं सकती। ऐसे कथन करनेवालों को या तो बेईमान समझना चाहिए या कोरे लंठ। ये कथन धूर्तता और मूर्खता इन दोनों के बाहर नहीं जा सकते, अर्थात् ऐसा कहनेवाले या तो धूर्त हैं या मूर्ख। ईश्वर ने बुद्धि-विकाश किसी एक समय के लिये स्थिर नहीं कर दिया है, वरन् सब समयों के लिये सम भाव से सभी सद्गुणों का वितरण किया है। यदि यह मान लें कि उस ने किसी के लिये अधिक बुद्धि-प्रदान आवश्यक माना और किसी के लिये कम, तो उसके दाक्षिण्य भाव में बड़ा भारी बट्टा लगेगा और प्रत्यक्ष सिद्ध हो जायगा कि वह भी शुद्ध न्याय न कर के अकारण पक्ष ग्रहण करता है। संसार में साम्य का सिद्धांन्त बहुत ही अटल है। ईश्वर ने सभी का सम भाव से आदर एवं निरादर किया है। उसने किसी के लिये सुख और किसी के लिये दुःख नहीं रचा है। जो कुछ अंतर हम लोग संसार में देखते हैं, वह हमी लोगों के कर्मों के कारण है, चाहे वे इस जन्म के हों या पूर्व जन्मों के। यदि ईश्वर भी निष्कारण किसी को बुद्धिमान और दूसरे को मूर्ख बनावे, तो वह भी न्यायी नहीं हो सकता। उसने तो सभी कुछ सब के लिये बनाया है। अपने अपने गुणकर्मानुसार मनुष्य सुख दुःख प्राप्त करता है। इसलिये ऐसा कभी न सोचना चाहिए कि कोई समय ईश्वर को किसी अन्य की अपेक्षा विशेष प्यारा है।

जैसे ईश्वरीय नियमों में समता-सिद्धांत सर्वथा दृष्टिगोचर होता है, वैसे ही मानवीय नियमों में होना चाहिए। जैसे वह दो समान खेतों में असमान धान्य नहीं देता, वैसे ही मानवीय नियमों को दो समगुणवान मनुष्यों का असमान सत्कार नहीं करना चाहिए। जो नियम इस अटल सिद्धांत के प्रतिकूल हैं, वे महा घोर पातक फैलानेवाले और सर्वथा तिरस्करणीय हैं। लार्ड हार्डिंग महाशय ने अपने एक व्याख्यान में प्रत्यक्ष कहा है--"जो क़ानून अन्याय पर अवलंबित है, उसके न मानने का प्रत्येक प्रजा को स्वाभाविक अधिकार है।" इस कथन से बढ़कर व्यक्तिगत स्वतंत्रता का आदर संसार में बहुत कम हुआ होगा। यह सदैव ध्यान रखना चाहिए कि प्रत्येक नियम, उपनियम, शास्त्र, क़ानून आदि सहज स्वातंत्र्य का विरोधी होने से कम से कम एक आवश्यक बुराई अवश्य है। किसी को और के अधिकारों को छीनने का स्वाभाविक अधिकार नहीं है। अधिकार संकुचन का नियम संसार में इसी लिये चला कि बिना इसके लोक परिचालन नहीं हो सकता। इसलिये किसी के स्वाभाविक अधिकार वहीं तक छीने जा सकते हैं, जहाँ तक उन से किसी दूसरे के उचित अधिकारों में बाधा पड़ती है अथवा अधिकार बरतनेवाले ही की हानि होती है। सुतराम् प्रत्येक नियम-रचयिता एवम् आज्ञाप्रचारक का कर्त्तव्य है कि दूसरे की स्वतंत्रता में बाधा डालने के पहले अपने नियम अथवा आज्ञा के औचित्य पर ध्यान दे ले। इसी प्रकार प्रत्येक समर्थ आज्ञाकारी का अधिकार वरन् धर्म है कि उस आज्ञा के मानने से पूर्व उसके गुण-दोषों पर पूर्ण समीक्षा कर ले।

बिना ऐसा करने से बहुधा कर्त्तव्य-पालन के स्थान पर उस का हनन हो जाता है; क्योंकि—

" धर्मस्य सूक्ष्मा गतिः

ऊपर हम आज्ञाकारिता, स्वतंत्रता और कर्त्तव्य-परायणता में जो संबंध है, उसे दिखलाने का प्रयत्न कर चुके हैं। अब कर्त्तव्य के कुछ अमुख्य सिद्धांतों पर विचार करना शेष है। ऊपर के कथनों से प्रकट है कि कर्त्तव्य परायणता के लिये समालोचना का गुण परमावश्यक है, क्योंकि भलाई के विचार में बुद्धिमत्ता एक अंग है। बिना बुद्धिमान हुए कोई शरीरी भला नहीं कहा जा सकता, क्योंकि अपनी मूर्खता के कारण न जानते हुए भी वह बुराइयाँ कर सकता है। इसी लिये कहा गया है कि मूर्ख मित्र से बुद्धिमान शत्रु भला है। प्रत्येक सुधी पुरुष के अनुभव में आया होगा कि आलोचनाओं में वक्रालोचनाओं की संख्या समालोचनाओं की अपेक्षा बहुत अधिक होती हैं। इसके कारण खोजने में भी धूर्तता अथवा मूर्खता से इतर कुछ न मिलेगा। लोग स्वार्थवश बहुधा पराए गुण को नहीं देख सकते, विशेषतया यदि वह गुणी उनका कोई निकट का संबंधी हो। कर्त्तव्य के मार्ग में स्वार्थपरता ने जितने काँटे बोए हैं, उतने किसी दूसरी वासना ने नहीं बोए। साधारण स्वार्थपरता तो गृहस्थ के लिये निंद्य नहीं हैं, किंतु स्वार्थी मनुष्य को चोरी से बचने के लिये सदैव पूरा प्रयत्न करना चाहिए, क्योंकि स्वार्थ की सीमाएँ चोरी से मिली हुई हैं और स्वार्थ-साधन में मनुष्य उचित से थोड़ा ही दूर जाने में चोरी की सीमा के

भीतर पहुँच जाता है। यदि समीक्षा-करण में मनुष्य धूर्तता का सहारा छोड़ दे जो सर्वथा उसी के अधिकार में है, तो उचित समीक्षा की बाधक मूर्खता ही रह जाती है। साधना का अभाव इसी के अंतर्गत आ जाता है। जो कोई किसी विषय पर उचित परिश्रम किए बिना ही अपनी सम्मति स्थिर करना चाहता है, वह भी एक प्रकार से मूर्ख ही है। इसी लिये कहा गया है कि जो मनुष्य सम्मति स्थिर करने का साहस नहीं करता, वह कायर है, जो इच्छा नहीं करता वह आलसी है और जो शक्ति नहीं रखता, वह मूर्ख है। अतः प्रत्येक सम्मति स्थिर न करनेवाला या तो कायर है, या आलसी अथवा मूर्ख।

जब सम्मति का स्थिर करना ऐसा आवश्यक समझा जाता है, तब उचित समझ पड़ता है कि उसके लिये विशेषतया सहायक दो चार बातों का भी यहाँ कथन कर दिया जाय। धूर्तता और मूर्खता का अभाव उचित सम्मति के पुष्टीकरण का अंग है। इसके अतिरिक्त उत्साह एक बड़ा ही उन्नतिकारी गुण है। काव्य-शास्त्र-विशारदों से छिपा नहीं है कि यही वीरता का स्थायी भाव माना गया है; अर्थात् बिना इसके कोई मनुष्य वीर नहीं हो सकता; क्योंकि उसमें वीरता के विचार आ ही नहीं सकते। उत्साह साधना का स्टीम इंजिन और श्लाघा का सहोदर है। किसी को भी श्लाघ्य न कहना नीचता की परकाष्ठा है। ऐसे अधम पुरुष से किसी बात की भी आशा नहीं हो सकती। यद्यपि संसार में मंडनालोचना तथा खंडनालोचना दोनों आवश्यक हैं, तथापि अधिक स्थानों पर पहली से मानसिक उन्नति और

दूसरी से अधःपतन देख पड़ते हैं। सुधी पुरुषों का यह भी एक कर्त्तव्य है कि वे सब की उचित महिमा करें। जो सब में महिमा का अभाव सोचता है, वह स्वयं एक नीच पुरुष है। संसार में बहुधा सद्गुण और दुर्गुण मिले रहते हैं। प्रत्येक वस्तु और स्थान पर परिश्रम के साथ खोजने से प्रायः तीव्रालोचक यथारुचि सुगुण अथवा दुर्गुण की स्थापना कर सकता है। जिनको बहुत से लोग नितांत स्वार्थी अथवा मूर्ख समझते हैं, खोजने से उनमें भी बहुत से ऐसे सद्गुण मिलते हैं जिनसे बड़े बड़े विद्वानों को भी शिक्षा मिल सकती है। किंतु एक कौआ स्वच्छ घर पर बैठने में भी पुरीषागार को ही समुचित स्थान समझेगा। संसार में सद्गुणों तथा दुर्गुणों का पूरा कोष प्रायः सभी ठौर भरा हुआ है; केवल खोजनेवाला चाहिएँ। लोगों ने अपनी वक्रालोचना की शक्ति को यहाँ तक फैलाया है कि ईश्वर तक में बिना दोष देखे उनसे नहीं रहा जाता। एक दार्शनिक ने यहाँ तक लिखा है कि शरीरियों के लिये दो के स्थान पर तीन नेत्रों का होना और उनका एक ही स्थान पर होने की अपेक्षा सिर के तीन पृथक् कोनों में होना अधिक लाभदायक था। कम से कम दोनों वर्त्तमान नेत्र ही अति समीप न होकर सिर के आगे पीछे या कानों के ऊपर होते तो अधिक सुभीता होता। उनका कथन है कि ऐसे भद्दे नेत्रों और शरीर के अन्य अवयवों की खराबी से प्रत्यक्ष प्रकट है कि यह शरीर ईश्वरकृत नहीं है। अतः ईश्वर है ही नहीं। ऐसी ऐसी खंडनालोचना करनेवाले अपनी ही कम समझी दिखलाते हैं। हमारा लोक तो सहस्रों लोकों में एक है। तब हम क्या जान

सकते हैं कि अन्य लोकों के शरीरावयव कैसे होंगे और इस लोक में अवयव ऐसे रखने से उसका क्या प्रयोजन था? निदान मंडनालोचना से आलोचक एवं संसार की जितनी ज्ञान-वृद्धि हो सकती है, उतनी खंडनालोचना से नहीं। इस कथन से यह प्रयोजन सिद्ध नहीं किया जाता है कि निंद्य वस्तुओं की निंदा न की जाय। ऐसा करना भी लोकोपकारक अवश्य है, परंतु गुण को छिपाना और अवगुण निकालना सदैव अत्यंत निंद्य समझना चाहिए। साधारणतया पंडितों का विचार है कि छिद्रान्वेषण से गुणावलोकन श्रेष्ठतर है। इसी लिये उनका कथन है कि साधारणतया बड़ों का समर्थन, बराबरीवालों का मान और अपने से छोटे दर्जेवालों से सभ्य व्यवहार उचित है। बड़ों को भाग्यवान मात्र कहकर उनके गौरव की तुच्छता व्यंजित करना प्रायः चोरी के समान तिरस्करणीय है; क्योंकि अधिकतर दशाओं में कमाई हुई गुरुता का कारण गुण ही होता है, आकस्मिक घटनाएँ नहीं। इसलिये जो लोग ऐसा कहते हैं कि शिवाजी सा वर्ण्य नायक पा कर मैं भी भूषण से अच्छी रचना कर डालता, वे केवल अपनी ही क्षुद्रता प्रकट करते हैं। सूक्ष्म दृष्टि से देखने पर प्रत्येक गौरवप्राप्त मनुष्य एवम् जाति में बहुत से ऐसे अनमोल गुण निकलते हैं जो उचित प्रकार से उसके गौरव के कारण और संस्थापक हैं। ऐसा कहनेवाले कि जब खँझड़ी मढ़ते बनती है, तब खूब बजती है, बहुत स्थानों पर अपनी ही कुटिलता अथवा मूर्खता प्रकट करते हैं। यह सदैव ध्यान रखना चाहिए कि खँझड़ी मढ़ी तो उसी ने है। इन कथनों का यह तात्पर्य्य नहीं है कि कोई कभी आकस्मिक घटनाओं

से गौरव प्राप्त करता ही नहीं। यहाँ प्रयोजन केवल इतना दिखाने से है कि सौ में नब्बे दशाओं में स्वयमर्जित गौरव के कुछ प्रबल और गरिमापूर्ण कारण होते हैं, जिनको ईर्ष्या द्वेषवश वक्रालोचक देखना पसंद नहीं करते।

कर्त्तव्य और आज्ञापालन का यह वर्णन अब यहीं समाप्त होता है। इसमें मुख्यता इसी बात की है कि कर्त्तव्य केवल इसी लिये करना चाहिए कि वह करणीय है। इसमें भलों की आशा जोड़कर इसके पुण्यपूर्ण तेज को कलंकित करने का विचार तक न करना चाहिए। कर्त्तव्यपालन में यदि कोई कभी समर्थ न हो, तो भी उसका सच्चा प्रयत्न मात्र पूर्ण प्रशंसा के योग्य है। विफलता अथवा सफलता सच्चे कर्त्तव्य-पालन की गरिमा को तिल मात्र घटा बढ़ा नहीं सकती।

दसवाँ अध्याय

आचार

"आचारः प्रथमो धर्म्म।"

आचारशास्त्र का वर्णन कई अंशों में ऊपर कहे हुए स्वतन्त्रता एवं कर्त्तव्यवाले वर्णनों से कुछ कुछ मिला हुआ है। फिर भी इन तीनों में अंतर थोड़ा नहीं है। इसी लिये इन तीनों विषयों का पृथक् अध्यायों में वर्णन उचित समझा गया है। आचार कई प्रकार का होता है जिनमें व्यक्त्याचार, कुलाचार और देशाचार की प्रधानता है। अंतिम दोनों आचार एक प्रकार से प्रथम के ही परिपोषक हैं; क्योंकि सभी शास्त्रों और आचारों का निचोड़ यही है कि मनुष्य एक भद्र पुरुष बने। कुलाचार और देशाचार का पृथक् वर्णन इसी लिये आवश्यक है कि इनका प्रभाव व्यक्त्याचार पर अन्य बातों की अपेक्षा कुछ अधिक पड़ता है।

भद्र पुरुष होने के लिये मनुष्य में किन किन गुणों की आवश्यकता है, इस प्रश्न का उत्तर देना सुगम नहीं है। पृथक् पृथक् जातियों और देशों ने इस प्रश्न के भिन्न भिन्न उत्तर दिए हैं। एक ही देश में भी प्रायः धार्मिक, राजनीतिक, सामाजिक आदि विचारों से भद्रत्व के विषय में भारी

विभिन्नता पाई जायगी। इन सब का अलग अलग वर्णन करना हमें इस स्थान पर अभीष्ट नहीं है। प्रसंगवश इनका दिग्दर्शन स्थान स्थान पर आप ही होता जायगा। पाश्चात्य सभ्यता ने भद्रत्व के लिये दो मुख्य गुण समझ रक्खे हैं, अर्थात् शारीरिक सफाई से रहना और प्रच्छन्न या प्रकाश्य किसी भी रूप से डींग न मारना। देखने में इन दोनों को एक साथ जोड़ना कुछ अनमिल जोड़ जान पड़ेगा; किंतु विचारपूर्वक देखने से प्रकट होता है कि भद्रत्व के लिये ये दोनों गुण बहुत ही आवश्यक हैं। सफ़ाई अर्थात् स्वच्छता पर हमारे यहाँ भी प्राचीन काल से बड़ा ही अनुरोध रहा है। यह विचार शौच में सम्मिलित है। शौच भगवान् मनु के अनुसार मनुष्य के दस मुख्य धर्मों में एक है। इनका वर्णन इसी अध्याय में यथास्थान होगा। प्रत्येक भद्र पुरुष का यह कर्त्तव्य है कि वह अपनी तथा औरों की जीवन-यात्रा में सदा सहायक रहे और कम से कम हानि न पहुँचावे। आयुर्वेदिक सिद्धांतों से भली भाँति सिद्ध हो चुका है। कि जो लोग अपना शरीर अथवा वस्त्र मैला रखते हैं, उनके द्वारा अनेकानेक रोगोत्पादक कृमि-समुदाय संसार मे उत्पन्न होकर उनके तथा समाज के स्वास्थ्य को हानि पहुँचाते हैं। यह बात निर्विवाद है कि पाश्चात्य जातियाँ आज कल हम लोगों से शारीरिक स्वच्छता में श्रेष्ठतर हैं। उन के हम से अपेक्षाकृत अधिक दीर्घजीवी होने का यह भी एक प्रधान कारण है। भारत ही में देखा गया है कि निर्धन लोगों में उनके मालिन्य के कारण प्लेग आदि रोग बहुत अधिकता से होते हैं। इसलिये शारीरिक

स्वच्छता को न केवल,भद्रत्व का वरन् मनुष्यत्व का मुख्य अंग समझना चाहिए।

दर्पोक्ति–प्रकाशन भी दो प्रकार का होता है, अर्थात् प्रच्छन्न और प्रकाश्य। प्रकाश्य में अहंकार तो सिवा नितांत मूर्खों के सभ्य लोग प्रायः कम करते हैं, किंतु अहंकार व्यंजित करने के दोषी ये लोग भी बहुतायत से पाए गए हैं। अपने मुँह मियाँ मिठ्ठू बनने के कथन का प्रकट में तो सभी असत्कार करते हैं, किंतु वास्तव में भी इससे बचने का प्रयत्न करनेवालों की संख्या अधिक नहीं है। यह सदैव ध्यान रखना चाहिए कि सभ्य व्यवहार सच्चरित्र का बहुत बड़ा भूषण और सब से अधिक प्रदर्शक है। शील इसका प्रधान अंग है जिसे मान्य होने के लिये दया का सह-गामी होना चाहिए। किसी भद्र पुरुष को उजड्डपन दिखलाने का उतना ही अधिकार नहीं है जितना कि किसी को मार बैठने का। अपने स्वभाव को स्ववश रखना कोई बड़ा गुण नहीं है, वरन् एक परम साधारण आवश्यकता है। यदि आप के चित्त में किसी कारण से क्रोध उत्पन्न हुआ है, तो उसे समाज में प्रकट कर के आप को औरों की मानसिक शांति भंग करने का ऐसा ही अधिकार नहीं है जैसा उनके घर डाका डालने का। प्रत्येक असंयमी मनुष्य समाज का रोग है। उसे आत्मसंयम की शिक्षा ग्रहण द्वारा अपने इस प्रचंड रोग की चिकित्सा अवश्य करनी चाहिए। जो समाज में क्रोध प्रकाश करता है, वह औरों का बड़ा अनादर करनेवाला कहा जायगा, क्योंकि अपने क्षणिक मानसविकार रोकने का कष्ट स्वयं न उठाकर वह औरों को उसके कुप्रभाव-सहन पर

निष्कारण बाध्य करता है, जिसका भाव यह व्यंजित होता है कि वह औरों के सम्मिश्रित कष्ट को अपनी अपेक्षा इतना तुच्छ समझता है कि अपने क्षणिक मानस विकार के रोकने का प्रयत्न नहीं करता। अतः इस कार्रवाई में भी वह दर्पोक्ति का दोषी है। जैसे क्रोध आदि प्रकट करके हम औरों को कष्ट देते हैं, वैसे ही करुणा प्रकटी-करण द्वारा भी समाज को दुःख पहुँचता है। इस बात पर भारत में इतना विचार नहीं किया जाता है जितना कि युरोपीय देशों में। वहाँ पुत्र, पति, पत्नी आदि के मृत्युभव असह्य शोकों को भी लोग समाज में प्रकट नहीं करते। ऐसी दशाओं में शोकाकुल मनुष्य एक दो मास पर्य्यन्त समाज में सम्मिलित ही नहीं होता, जिसमें उसके शोक से औरों को प्रकाश्य अथवा प्रच्छन्न क्लेश न पहुँचे। कुल बातों का सारांश यह है कि प्रत्येक भद्र पुरुष को अपना पवित्र कर्त्तव्य समझना चाहिए कि औरों को यथाशक्ति लाभ पहुँचावे और उन्हें अपने किसी आचरण से कभी किसी प्रकार की हानि पहुँचने न दे। अतः पर दुःख या हानि की इच्छा और परोपकार को भद्रत्व का मूल कारण समझना प्रयेक सुधी पुरुष का पवित्र कर्त्तव्य है। सामाजिक जीवन को साधारण न समझकर उसे भारी गौरव प्रदान करना भी परमाश्यक है। प्रत्येक पुरुष समाज से लाभ उठाता है। ऐसी दशा में प्रत्युपकार में उसे यथाशक्ति लाभ पहुँचाना परमावश्यक है। हमें थोड़ी बात को भी छोटा न समझना चाहिए और अपने छोटे से छोटे दोष को भी पूर्ण-तया तिरस्करणीय मानना हमारा धर्म है। अपने गुणों तथा दूसरे के दोषों को छोटा मानना तथा अपने दोषों और

दूसरे के गुणों को गुरु समझना भद्रत्व का एक बड़ा पोषक विचार है। हमें सदैव धैर्य्य धारण कर के क्रोध-प्रदर्शन से बचना चाहिए।

अब तक भद्रत्व के दो प्रधान अंगों का कथन हुआ है। अब आचार-शास्त्र के अन्य अंगों का कुछ वर्णन किया जाता है। व्यक्त्याचार के लिये भलमंसी (शराफ़त) भी एक परमावश्यक गुण है। साम्य, स्वसमीक्षाकरण, हठ का अभाव, प्रसन्न-चित्तता, सहृदयता और सौजन्य प्रत्येक व्यक्ति के बहुत बड़े भूषण और भद्रत्व के भारी पोषक हैं। जो लोग मद्यादि के असंयत सेवन से उन्मत्त होते हैं, वे स्वनिरादर के घोर अपराध के भागी हैं। बिना अपनी समीक्षा किए कोई मनुष्य साधारण दोषों से छुटकारा नहीं पा सकता। जो पुरुष युक्ति-युक्त और माननीय तर्क सुनकर भी अपना हठ नहीं छोड़ता, वह पूरा झूठा कहलाए जाने के योग्य है। ऐसों ही को समाज नामाकूल की उपाधि देता है। बिना प्रसन्न चित्त हुए मनुष्य न अपना उपकार कर सकता है और न समाज का। इसी गुण को लोग ज़िंदादिली कहते हैं। ऐसा प्रत्येक पुरुष समाज का कोष है। किसी को यदि वह कुछ न दे, तब भी सदैव पुण्य प्राप्त करता है। जिसके द्वारा औरों को जितनी ही प्रसन्नता प्राप्त हो, वह उतने ही पुण्य का भागी होगा। सहृदयता के बिना मनुष्य औरों के समझने में सदा विफल रहता है, सो उसे तादृश ज्ञान-प्राप्ति नहीं होती। केवल संकीर्ण-हृदय पुरुष हृदय-शून्य और अरसज्ञ होते हैं। ऐसे लोगों की शिक्षा में वैचित्र्य की सदैव कमी रहती है।

सौजन्य भद्रत्व का बहुत बड़ा अंग है। इसे बरतने में पुरुष समाज को सुखी कर सकता है और लोगों का प्रीतिभाजन भी होता है। कहा ही है—

" नर की और नलनीर की गति एकै करि जोय।
ज्यों ज्यों नीचो ह्वै चलै त्यों त्यों ऊँचो होय॥ "

चरित्र पूर्णता के लिये मनुष्य को केवल उपर्युक्त गुणों की आवश्यकता नहीं, वरन् अपने में कोई न कोई एसा हुनर भी लाना चाहिए जिससे वह समाज का मनोरंजन कर सके। विविध कलाओं के अतिरिक्त मनुष्य को साहित्य एवं चित्र का भी कुछ ज्ञान अवश्य रखना चाहिए। यदि इन दोनों बातों में से एक भी उसके पास न होगी, तो समाज में उसका भाग बड़ा ही भद्दा और फीका जँचेगा। प्रत्येक सुधी पुरुप को अपने में सौंदर्य्य का प्रेम सदैव जाग्रत रखना चाहिए, क्योंकि इसके बिना उसके चरित्र ही में कोई सुंदरता नहीं रहती।

प्रत्येक शिक्षित पुरुप को अपनी जीविका निर्वाहवाले कार्य्य के अतिरिक्त कम से कम एक लोकोपकारी विपय को अवश्य अपनाना चाहिए। इस बात की युरोपीय देशों में बड़ी प्रचुरता है; किंतु दुर्भाग्यवश आज कल हमारे यहां इसका उचित से वहुत ही कम सम्मान है। यहाँ लोग जो व्यापार करते हैं, उसी का ज्ञानविस्तार अपने कर्त्तव्य की सीमा समझ वैठते हैं और शेष सभी विषयों की ओर उदासीन रहते हैं। यह आनिवृत्य चरित्र-संकुचन का वहुत बड़ा कारण

होता है जिससे वह मनुष्य औरों को बड़ा फीका जँचने लगता है और इसका संग उन्हें भार स्वरूप हो जाता है। फिर अनेकानेक विषयों का ज्ञान समाज में जो इस बानि द्वारा आता है, उससे लोकोपकार भी बहुत होता है। चींटी, हाथी, मधुमक्खी, आदि का ज्ञान संसार ने इसी प्रकार से पाया है। जो लोग कुछ भी काम नहीं करते, उन्हीं को सब से अधिक समयाभाव की शिकायत रहती है। कार्य्यदक्ष पुरुष आलसी से चौगुना काम करते हुए भी उससे अधिक अवकाश का भी आनंद लूटता है। कार्य्य-दक्षता एक भारी रत्न है जो व्यक्ति, समाज, देश और संसार सभी को भारी लाभ पहुँचाता है। जिसे अपने ही को प्रसन्न करना है, उसका स्वामी अर्थात् स्वयं वह, उससे कभी प्रसन्न नहीं हो सकता। उसका चित्त सदैव कुछ न कुछ पाने को उद्विग्न रहता है, जो उद्विग्नता सभी दुर्गुणों की जननी होती है। दिन में आठ घंटा काम करने के पीछे बचा हुआ अवकाश का समय जो मजा दिखाता है, उसका शतांश आनंद चौबीस घंटे आराम करनेवाले को स्वप्न में भी नही प्राप्त हो सकता। कहते ही हैं कि शून्य सदन मे प्रेत का निवास रहता है। अतः कार्य्य न करनेवाला सदैव दोषों ही को सोचा करता है। जो पुरुष अकर्मण्य है, उसे पूरा चोर समझना चाहिए, क्योंकि वह अपनी कमाई न खा कर दूसरों ही के जीवन के सहारे कालक्षेप करता है। यदि महापुरुषों की ओर ध्यान दिया जाय, तो ज्ञात होगा कि क्या सधन और क्या धनहीन, ऐसे सभी लोग पूर्णतया कार्य्य-कुशल रहे हैं। महात्मा बुद्ध, शंकर, अशोक, अकबर, औरंगज़ेब, शिवाजी,

प्रतापसिंह इत्यादि में से चाहे जिसको ले लीजिए, तो विदित होगा कि कार्य्यदक्षता ही पर उनका महत्व अवलंबित है। किसी एक भी अकर्मण्य पुरुष की महत्ता संसार में अद्यावधि प्रकट नहीं हुई है। ढंग, धैर्य्य और समय संबंधी तत्परता प्रायः इन्हीं तीन गुणों ने प्रत्येक महापुरुष को उसका महत्व प्रदान किया है। सामयिक तत्परता एक ऐसा अमूल्य रत्न है जो मनुष्य के जीवन को कार्य्य-कुशलता के लिये मानों चौगुना कर देता है। यह सदैव ध्यान में रखना चाहिए कि समय ही जीवन है। अतः जो पुरुष अपना जितना समय असावधानी से निष्फल करता है, उसका उतना जीवन वृथा हो जाता है। फिर भी समय-साफल्य के लोभ से मनुष्य को अपनी शक्ति से बाहर कभी कार्य्य न करना चाहिए। कार्य्य के लिये आयुर्वेदिक नियमानुसार जिस दिन जितना समय अलम् है, उससे अधिक व्यय करना एक प्रकार का आत्म-हनन है जिससे सभी कार्य्यकर्त्ताओं को सदैव बचना चाहिए। धनी पुरुषों को परिश्रम करने से आत्म-गौरव में किसी प्रकार से क्षति नहीं समझनी चाहिए। परिश्रम से गौरव का ह्रास नहीं होता, वरन् उसकी सभी प्रकार से वृद्धि होती है। परिश्रम का फल केवल धन नहीं है, वरन् लोकोपकारिणी शक्ति ही कार्य्य-दक्षता का मुख्य फल है। धन की दार्शनिक लोगों में इसी कारण महत्ता मानी जाती है कि इच्छा रहने से मनुष्य उसके द्वारा भली भाँति उपकार कर सकता है। प्रचुर परिश्रम द्वारा कमाया हुआ धन कोई मनुष्य बिना विचारे नहीं फेंक देगा; किंतु बिना परिश्रम से प्राप्त कोष को लोग तृणवत् फूँकते हुए देखे गए हैं। इसी-

लिये कहा गया है कि मनुष्य को अपनी आय के अंदर ही व्यय करना चाहिए, उसके बराबर नहीं; क्योंकि ऐसी दशा में अदृष्टपूर्व घटनाओं के कारण उसे न चाहते हुए भी अपनी आय के बाहर व्यय करना पड़ेगा। मनुष्य प्रायः पोशाक, अलंकार, दिखाव और द्यूत के कारण ऋणी होता है। अधिक व्यय से मनुष्य में दुराचार भी आ जाता है। दार्शनिकों ने दुराचार को आत्महिंसा के समान पापकर्म माना है। इससे नर नारी दोनों का धर्म नष्ट होता है और किसी प्रकार का कोई लाभ नहीं होता। बड़े बड़े शृंगारी कवियों तक ने लिखा है—

सुख थोरो अरु दुख बहुत परकीया की प्रीति।

और भी—

काँची प्रीति कुचाल की बिना नेह रसरीति।
मार रंग मारू मही बालू की सी भीति॥

फिर शास्त्रकारों का कथन है कि ऋणी लोग झूठे, अस्वस्थ और पापी होते हैं। उनका झूठा होना इस प्रकार सिद्ध है कि वे अपने वास्तविक विभव से अधिक महत्व लोगों पर प्रदर्शित करना चाहते हैं, मानों प्रत्येक परिचित जन से कहते हैं कि हममें इस प्रकार व्यय करने का आर्थिक सामर्थ्य है, यद्यपि वास्तविक दशा इससे बिलकुल प्रतिकूल है। उनकी अस्वस्थता इस प्रकार मानी गई है कि मानसिक चिंताओं का प्रभाव शरीर पर अवश्य पड़ता है और ऋणी मनुष्य

कभी निश्चिंत नहीं रह सकता। इसी तर्क के अनुसार कहा जाता है कि मितव्यय की बानि स्वास्थ्य-प्रदायिनी होती है। ऋणी मनुष्य पापी इसलिये माना गया है कि वह अपने पुरुषार्थ का सहारा न करके दूसरों की कमाई से कुछ चुराता है। मनुष्य को यथाशक्ति सभी दूषणों से बचना चाहिए। किंतु प्रायः ऐसा होता है कि लोग दोष से बचने का इतना प्रयत्न नहीं करते जितना कि वास्तविक दोष-गोपन का। इसी लिये प्रायः देखा गया है कि दोषों से चरित इतना तबाह नहीं होता जितना कि दोष के पीछेवाले आचरणों से। ये आचरण प्रायः सत्य के बड़े ही विरोधी होते हैं जिसका कथन कर्त्तव्य के वर्णन में ऊपर आ चुका है। कुल बातों का सारांश यह है कि मनुष्य को न केवल भद्रत्व-प्रदर्शन का प्रयत्न करना चाहिए, वरन् भद्रत्व के सब लक्षण अपने में पूर्णतया लाने का अनिवार्य्य परिश्रम प्रत्येक सुधी के लिये योग्य है।

अब हम व्यक्त्याचार संबंधी विचारों का कथन भगवान् मनु की दस आज्ञाओं के वर्णन के साथ समाप्त करेंगे। महात्मा मूसा की दस आज्ञाओं का हाल तो बहुत लोगों ने सुना होगा, किंतु भगवान् मनु की दसों आज्ञाएँ उचित प्रकार से ज्ञात नहीं हैं। उन्हींका वर्णन अब हम इस स्थान पर करते हैं—

धृति क्षमा दमोऽस्तेयं शौचमिंद्रियनिग्रहः।
धीर्विद्या सत्यमक्रोधो दशकं धर्मलक्षणम्॥

धृति (धैर्य्य) के विना कोई पुरुष सदाचारी नहीं कहा जा सकता, क्योंकि जल्दी में वह प्रायः ऐसे काम कर बैठेगा

जो विचारपूर्वक चलने से वह कभी न करता। आतुरता से न जाने हुए भी हमारे विचारों में अनेक दोष रह जाते हैं। एकाएकी भारी दुःखों से धैर्य्य का निरादर करनेवाला बहुत शीघ्र विचलित हो जायगा। धैर्य्य के अभाव से मनुष्य को अनेकानेक ऐसी हानियाँ सहनी पड़ती हैं जिनसे सावधान मनुष्य सुगमता से बच सकता है। क्षमाहीन लोग संसार के समालोचक न कहे जाकर पूरे आततायी माने जायँगे। मनुष्य स्वभावशः एक ऐसा दुर्बल जीव है, और शिक्षा, अनुभव, विचारशक्ति आदि में भिन्न भिन्न मनुष्यों में इतना अंतर होता है कि किसी की भूलों पर रुष्ट होना पंडित का काम नहीं है। भूल तो सभी से होती है। फिर किसी की भूल पर क्रोध करना कहाँ तक उचित कहा जा सकता है? बहुत से लोग कहते हैं कि जान बूझकर बुराई करनेवाले को क्षमा कैसे किया जाय? उनको यही सोचना चाहिए कि जो कोई भूल करता है, वह अज्ञानवश करता है। बिना अविद्या के भूल हो ही नहीं सकती। तब क्षमा के लिये जान बूझ कर अथवा बे जानी हुई दोनों भूलें बराबर हैं। इसी के साथ यह भी ध्यान मे रखना चाहिए कि उचित दंड का देना क्षमा का किसी अंश मे भी विनाशक अथवा प्रतिद्वंदी नही है। ईश्वर के बराबर क्षमावान् कोई नहीं है, किंतु वह भी उचित दंड सदैव देता है। दंड तो आचार सुधारने के लिये दिया जाता है, न कि बुराई बढ़ाने को। दंड बुरा तभी कहा जायगा, जब वह औचित्य की मात्रा से बढ़ेगा।

दम मानसिक इंद्रियो के दमन को कहते हैं और इंद्रिय-

निग्रह शारीरिक इंद्रियों के दमन का नाम है। ये दोनों दृढ़ताएँ सदाचार विवर्द्धिनी हैं। जो मनुष्य बाह्येंद्रियों को वश में करके भी मानसिक वासनाओं को नहीं रोक सकता, उसका आचार मिथ्याचार मात्र है। बिना इंद्रियदमन के कोई मनुष्य स्वप्न तक में सदाचारी नहीं हो सकता। यह बात बिल्कुल प्रकट है और इसकी पुष्टि में कोई युक्तियुक्त प्रमाण देना अनावश्यक है।

अस्तेय (चोरी का अभाव) देखने में एक साधारण बात समझ पड़ती है, किंतु वास्तव में बड़ा ही प्रधान गुण है। चोरी केवल सेंध लगाने अथवा छिपा कर किसी का धन उठा लेने में नहीं होती है, वरन् किसी प्रकार से ऐसे धन, अधिकार, प्रभुत्व आदि के उपभोग में भी समझी जायगी जिसका कि भोक्ता अधिकारी नहीं है। अनधिकार प्राप्ति में सदैव चोरी आ जायगी, चाहे वह धन की हो, अथवा कीर्ति, प्रशंसा या किसी भी अन्य वस्तु की। यदि किसी और ने कोई अच्छा काम किया है और मैं यह जान कर भी कि मेरा उससे कोई विशेष संबंध नहीं है, लोगों से उस विषय में अपनी बड़ाई सुन कर मौनावलंबी रहूँ, तो भी मैं एक प्रकार से चौर कर्म का दोषी हूँगा। इसलिये पूर्ण न्याय से इतर जितने कार्य अथवा अधिकार प्राप्त होते हैं, उन सब में कहीं न कहीं चौर कर्म आ जाता है। इन सब से बचना प्रत्येक सदाचारी का पवित्र कर्त्तव्य है।

शौच विशेषतया शारीरिक स्वच्छता से संबंध रखता है। इसका होना न केवल भद्रत्व के लिये, वरन् मनुष्यत्व के लिये

भी परमावश्यक है, जैसा कि ऊपर दिखलाया जा चुका है। फिर भी हमारे शास्त्रों ने शौच संबंधी अनेकानेक नियमोपनियम बना रक्खे है जिनका मानना भी समाज आचार का एक अंग मानता है। किंतु इतना सदैव ध्यान में रखना चाहिए कि ये नियम सदाचार से संबंध न रख कर धर्म से ही वास्ता रखते हैं। सदाचार से इन से कोई विशेष संबंध नहीं है।

बिना धी (बुद्धि) के कोई सदाचारी नहीं कहा जा सकता, क्योंकि इसके बिना उसे आचार-शास्त्र का समुचित ज्ञान हो ही नहीं सकता। विद्या भी सदाचार के लिये परमावश्यक है और बिना सत्य के कर्तव्य का पालन कभी नहीं हो सकता। इसका वर्णन कर्त्तव्य-कथन के अंतर्गत हो चुका है। अक्रोध, सदाचार तथा भद्रत्व का बहुत बड़ा समर्थक है। इसका कथन इसी ग्रंथ में अन्यत्र कुछ विस्तार के साथ होगा। इन दसों गुणों को भगवान मनु ने धर्म के लक्षण माना है। उनकी अनुमति में बिना इनके कोई मनुष्य धर्मी नहीं हो सकता।

यहाँ तक व्यक्त्याचार का वर्णन किया गया। अब कुलाचार और देशाचार का कुछ कथन शेष है। पहले हम कुलाचार का ही कथन करते हैं। कुल का लक्षण यों कहा गया है—

"आचारो विनयो विद्या प्रतिष्ठा तीर्थदर्शनम्।
निष्ठा वृत्तिस्तपोदानं नवधा कुललक्षणम्॥"

इस कथन के अनुसार जिस में ये नौ गुण हों, वही पुरुष कुलीन कहा जा सकता है, और कोई नहीं। धर्म के दसों

गुणों से यदि कुल के गुण मिलाए जाँय, तो ज्ञात होगा कि सिवा विद्या के इन दोनों में और कुछ नहीं मिलता है। ध्यानपूर्वक देखने से विदित होगा कि कुछ के गुणों में सांसारिक प्रतिष्ठा का विचार कुछ अधिक दृढ़ है। जान पड़ता है कि शास्त्रानुसार सभी कुलीन पुरुषों को धर्मी होना चाहिए, किंतु सभी धार्मिक लोगों को कुलीन होने की आवश्यकता नहीं है। कुल एक मनुष्य से नहीं बनता, वरन् इसके लिये समुदाय की भी आवश्यकता है। संसार में सैंकड़ों देश हैं और प्रत्येक देश में अनेकानेक समुदाय हैं। देश, काल, अनुभव, इतिहास, व्यापार आदि के विचारों से प्रत्येक कुल का आचार अन्यों से कुछ पृथक् रहता है। उस कुल के सभी व्यक्तियों पर यह पार्थक्य भी कुछ न कुछ बाध्य अवश्य है। इसी लिये देश में कुलाचारों का प्रचार हुआ। इनकी उत्तमता अथवा निकृष्टता के जाँचने में सदाचार की कसौटी का प्रयोग आवश्यक है। जो कुलाचार सदाचार के बाहर नहीं निकलता, वह माननीय हो सकता। फिर भी कुलाचार और सदाचार में इतना भेद है कि इसकी आज्ञाएँ प्रत्येक पुरुष पर बाध्य हैं, किंतु उस (कुलाचार) की प्राप्ति मनुष्य की इच्छा पर निर्भर है।

देशाचार अनेकानेक कुलाचारों का समूह हो सकता है। एक देश में एक ही कुल का भी होना संभव है, किंतु बहुधा प्रति देश में अनेक कुल होते हैं। इसीलिये कुलाचार जैसे व्यक्त्याचारों का समूह और एक प्रकार से पथ-प्रदर्शक है, वैसे ही प्रायः देशाचार भी कुलाचारों का समुदाय और नेता है।

फिर भी व्यक्त्याचार इन दोनों से सिरे है। बिना इसके मुख्य सिद्धांतों का मान किए कोई कुलाचार अथवा देशाचार मान्य नहीं हो सकता। देशाचार का प्रभाव व्यक्त्याचारों पर बहुत पडता है; किंतु प्रभावशाली महात्माओं का व्यक्त्याचार, देशाचार एवं कुलाचार को, मोमी प्रतिमा की भाँति जैसा चाहे वैसा बना बिगाड़ सकता है। जिस देश में जितने ही ऐसे महापुरुष उत्पन्न हो जाते हैं, उसकी उतनी ही अधिक गरिमा होती है। इन्ही महापुरुषो का हम लोग उदाहरण देते हैं। दृढ़ेच्छा और उदाहरण चरित्र के सब से बड़े सहायक होते हैं। उदाहरण होने के लिये व्यक्ति का भला और महात्मा होना परमावश्यक है। ऐसे उदाहरणों का कभो विनाश नही होता, क्योंकि मरणानंतर भी उनके चरित्र पृथ्वो पर वर्त्तमान रहकर जीवितावस्था से बहुत अधिक कार्य्य संपादित करते हैं। ऐसी दशा में उनके चरित्र औरों के व्यक्त्याचरणों में घुसकर एक हो साथ असंख्य रूप धर के काम करते हैं। कौन कह सकता है कि महात्मा व्यास, बुद्ध, शंकर, ईसा, मुहम्मद आदि की आत्माएँ सहस्र रूप धरकर प्रति क्षण कार्य्य संपादित नहीं करतीं। भारी भारी विचार समय पर परिपक्व हो कर तादृश कार्य्य करते हैं। महापुरुषों को संसार ने जातियों का दाय माना है। प्रत्येक जाति की गुरुता उसके उदाहरणों पर निर्भर है। व्यक्त्याचार की महत्ता ही कुलाचार और देशाचार का प्राण है। बिना इसके कुलाचार और देशाचार शवप्राय हैं। यदि महात्मा भीष्म पितामह सा दृढ़प्रतिज्ञ, रामचंद्र सा आदर्श हिंदू, सुदास सा विजयी, मनु सा राजा, हरिश्चंद्र सा सत्य-

प्रिय, व्यास सा कवि एवं दार्शनिक, बुद्ध सा दयावान तथा ज्ञानी, शंकर सा पंडित, पतंजलि सा योगी, कपिल सा स्वतंत्र विचारी, कृष्ण सा सर्वगुणाकर, अर्जुन सा वीर, बलि सा दानी, प्रह्लाद एवं चैतन्य सा भक्त, शिवाजी सा स्वदेशानुरागी, परशुराम सा पितृप्रेमी, यशोदा सी माता, कालिदास एवं तुलसीदास सा कवि, दशरथ सा पिता, भरत सा भाई, बाजीप्रभु देशपांडे सा सेवक, सावित्री सी सती, शुक्र सा मंत्री, हम्मीर सा मित्र, प्रतापसिंह सा जात्यभिमानी, अकबर सा नीतिज्ञ, शिशोदिया चंद सा कर्तव्यपरायण, अशोक सा धार्मिक और बीसलदेव सा प्रबंधकर्त्ता आदि भारत में न हो गए होते, तो आज इस हतभाग्य देश का अवनति में भी सिर ऊँचा करनेवाला कोई न होता और हमारे लिये उन्नति का पथ प्रदर्शक देखने में न आता। उपर्युक्त कथनों से प्रकट है कि ये तीनों प्रकार के आचार एक दूसरे के नेता एवं अनुगामी हैं। इनमें से प्रत्येक का औरों पर पूरा प्रभाव पड़ता है तथा इन तीनों की स्थिति तीनों ही के प्रभाव की फलस्वरूपा है। देशाचार पर भौगोलिक दशाओं का भी बड़ा प्रभाव रहता है; वरन् यों कहना चाहिए कि देशाचारों पर भूगोल ही की मुख्यता है, यद्यपि इतिहास का भी कम प्रभाव इस पर नहीं रहता। ऐतिहासिक प्रभाव भी एक प्रकार से व्यक्त्याचार ही का फल है; किंतु कभी कभी अन्य कारणों से भी होता है। वर्त्तमान काल में सभ्यता के बढ़ने से ऐतिहासिक घटनाएँ बहुतायत से एक व्यक्ति के अधीन नहीं रह गई हैं और सारे देश के मतसमुदाय का प्रभाव पाकर वे संगठित होती हैं। इतिहास देशाचार पर कैसे प्रभाव डालता

है, इसका एक उदाहरण भारत में स्त्रियों का पर्दे में रहना है। मुसल्मान जिस काल भारत में विजयार्थ आकर सफल मनोरथ हुए, तब भी बहुत काल पर्य्यंत अपने देशों से समुचित सख्या में स्त्रियाँ न ला सके। इसलिये उन्हें बलपूर्वक यहाँ से स्त्रियाँ छीननी पड़ीं। इसका फल यह हुआ कि औरला में असमर्थ हिंदू लोगों को अपनी रामाएँ पर्दे में रखनी पड़ीं।

भैागोलिक दशाओं का प्रभाव लोकाचार पर कैसे पड़ता है, इसके उदाहरण देने तक की आवश्यकता नहीं है। लोगों में वस्त्रों की बहुतायत एवं कमी, विशिष्ट भोज्य पदार्थों का ग्रहण एवं त्याग, भोजन करने के प्रकार, अनेकानेक आह्निक तथा नैमित्तिक आचार आदि सब देशों में विशेषतया उष्णता एवं शैत्य की प्रधानता तथा अप्रधानता पर निर्भर हैं। जहाँ शैत्य की विशेषता है, वहाँ लोगों में कपड़ों की बहुतायत, मद्य सेवन की बानि, गरमी उत्पन्न करनेवाले भोजन की रुचि, बालविवाह से घृणा, मांसाशन से प्रेम इत्यादि अनेकानेक आचारों का प्राधान्य देखा जायगा। इसी प्रकार उष्णता-प्रधान देशो के आचार इन बातों के प्रतिकूल होंगे। धर्मों पर भी इन्हीं कारणों का प्रभाव पड़ता है।

हमारे यहाँ विशिष्ट भोज्य पदार्थों के ग्रहण एवं त्याग पर थोड़े काल से झगड़ा मच रहा है। इसलिये यहाँ इस विषय पर भी कुछ लिखा जाता है। यद्यपि वस्तुतः इसका आयुर्वेद से संबध हैं, न कि धर्म एवं आचार से, फिर भी हमारे यहाँ स्व-शरीर-रक्षण भी प्रत्येक मनुष्य का धर्म समझा गया

है। क्योंकि आत्म-शरीर को भी ऋषियों ने स्वसंपत्ति न मानकर थाती मात्र माना है। इसलिये हम स्वेच्छया स्व-शरीर का हनन अथवा उसकी अवनति करने से पाप के भागी होते हैं। इन्हीं कारणों से आयुर्वेद संबंधी नियम भी हमारे ऊपर वैसे ही बाध्य हैं; जैसे कि अन्य धार्मिक नियम। इसी लिये हमारा आयुर्वेद भी एक प्रकार का धर्म शास्त्र है।

अब हम इसी का संबंध धर्माचार से दिखलाने में प्रवृत्त होते हैं। हमारे यहाँ मांस-भक्षण पर प्राचीन काल से ऋषि लोग विचार करते आए हैं। दया का भाव हमारे यहाँ धर्म का एक विशेष अंग माना गया है। इसी से जीव मात्र का अकारण हनन पातक समझा गया है। यह बात कुछ अंशों में यथार्थ भी है, क्योंकि हमें यथासंभव सब के साथ न्याय करना चाहिए। फिर भी अनेकानेक ऐसे शरीरी हैं जो अकारण भी मनुष्यों एवं औरों पर प्रहार कर बैठते हैं; जैसे साँप, बिच्छू, सिंह आदि। इनके ऊपर दया करना मनुष्य के साथ निर्दय होना है। इसी प्रकार मृगादिक तथा अनेक पक्षी हमारे क्षेत्रों की उपज पर सदैव आक्रमण किया करते हैं। इनके मारने के लिये ही मृगया करना क्षत्रियों का धर्म माना गया है। फिर सिंहादि की प्रकृति ही ऐसी है कि वे अन्य शरीरियों का भक्षण करके ही जी सकते हैं। यह नहीं कहा जा सकता कि सिंह मृग-हिंसा करने में पाप कमाते हैं। यही दशा कई अन्य जीवों की है। फिर वनस्पति भी निर्जीव न होकर सजीव है। जल वायु आदि में भी अनेक शरीरी रहते हैं जिन्हें न जानते हुए हम सदैव खाते रहते हैं। दुग्ध, घृतादि भी शरीरभव हैं, तो इनका भक्षण भी

एक प्रकार से शरीर भक्षण के समान है। इन कारणों से कोई मनुष्य वरन् जीवधारी शरीराभक्षी होने का अभिमान नहीं कर सकता। इन्हीं कारणों से हमारे ऋषियों ने लिखा है कि जिस जीवधारी का प्राकृतिक भक्षण जो है, उसके संपादन में यदि कोई वध भी हो, तो वह वध पाप का कारण नहीं हो सकता।

अब यह देखना शेष है कि मनुष्य प्रकृति से मांसाशी है या नहीं। मनुष्य के ऊपर नीचे के चार दाँत ऐसे हैं जिन की बनावट मांसाशी शरीरियों के उन्नत दंतों के समान है। मनुष्य प्रकृति से मांसाशी है या नहीं, इस प्रश्न पर अद्या-वधि पडितों मे मतभेद है। अनुभव से प्रकट है कि मनुष्य को मांस हानि नही पहुँचाता और विना इसके भी वह रह सकता है। पाश्चात्य देशों में लोग बहुतायत से मांस खाते है। चीनी, जापानी आदि बौद्ध होकर भी ऐसा ही करते है। हमारे बंगाल मे चावल बहुतायत से उपजता है। यदि बंगाली मत्स्याशन न करे, तो उन के शरीर का पालन सम्यक् प्रकार से नही हो सकता; क्योंकि चावल गेहूँ के समान पोषण शक्ति नही रखता। फिर अस्वस्थ होने पर प्रत्येक मनुष्य के लिये सभी प्रकार के भोज्य पदार्थ चाहिएँ। इसलिये शुद्ध नियम यही समझ पड़ता है कि भोजन का नियम आयुर्वेदिक सिद्धांतों के अनुसार चलना चाहिए। फिर भी क्या भोजन और क्या अन्य बातें, सभी दशाओं में न्याय का ध्यान रखना उचित है। अपने किसी आचार से किसी जीवधारी के साथ यथासंभव अन्याय न होना चाहिए।

कुल बातों का सारांश यह निकलता है कि परोपकार-प्रचार एवं परपीड़न-तिरस्कार आचार शास्त्र का मूल मंत्र है। कहा भी है—

अष्टादशपुराणेषु व्यासस्य वचनद्वयं।
पुण्यं परोपकाराय पापाय परपीड़नम् ॥

और भी—

व्यासदेव ने विरच अठारह विशद पुराना।
पुण्यमूल उपकार पाप अपकार बखाना ॥

ग्यारहवाँ अध्याय

वीरता

वीरत्व संसार मे एक अमूल्य रत्न है। इसका आविर्भाव उत्साह से होता है। साहित्य-शास्त्र मे उत्साह ही इसका स्थायी भाव माना गया है, अर्थात् बिना उत्साह के यह कभी स्थिर नही हो सकता। जिस पुरुष में किसी प्रकार का उत्साह नही है, वह किसी भी बात में कभी वीरता नहीं दिखला सकता। यह एक ऐसा गुण है कि जिसे न केवल वीर, वरन् कादर भी सम्मान की दृष्टि से देखता है। वीर से बढ़कर सर्वप्रिय कोई नहीं होता; और संसार पर वीरता का जितना प्रभाव पड़ता है, उतना प्राय. और किसी गुण का नही पड़ता। सत्य आदि भी बड़े अनमोल गुण हैं; किंतु जितना आकस्मिक और रोमांचकारी प्रभाव वीरत्व का पड़ेगा, उतना सत्य आदि का कभी नहीं पड़ेगा। इसी लिये वीरत्व मे जगन्मोहिनी शक्ति सभी अन्य गुणो से श्रेष्ठतर है और यह कीर्ति का सब से बड़ा वर्धक है। कादरता और भय से इसका सहज विरोध है। कादरता में तिलमात्र आकर्षण शक्ति तथा भय में कुछ भी प्रीति योग्य नहीं है। कादरता का कोई भी अंश किसी का चित्त अपनी ओर आकृष्ट नहीं करेगा; और भय में कोई भी ऐसा अंश नही है जो किसी का प्रीतिभाजन हो सके।

वीरत्व को बहुत लोगों ने सामर्थ्य में मिला रक्खा है, किंतु इन दोनों में कोई मुख्य संबंध नहीं है। सामर्थ्य केवल इतना करता है कि वीरत्व की महिमा बढ़ा देता है। यदि वीर पुरुष बलहीन हुआ, तो उसकी वीरता वैसी नहीं जगमगाती जैसी की बलवान वीर की। यदि हनुमान जी समुद्र न फलांग गए होते, तो भी उतने ही बड़े वीर होते जैसे कि अब माने जाते हैं; किंतु उनके महावीरत्व को चमकानेवाले उदधि-उल्लंघन और द्रोणाचल-आनयन के ही कार्य्य हुए। वीरत्व और पराक्रम में इतना ही भेद है। वास्तविक वीरत्व का मुख्य आधार शारीरिक बल न होकर मानसिक बल है, जिसे इच्छा शक्ति (Will-power) कहते हैं। इस शक्ति का वेग कोई भी नहीं रोक सकता। एक पुरुष की उद्दाम इच्छाशक्ति से पूरी सेना में पुरुषत्व आ सकता है और एक कादर कभी कभी पूरे दल की कादरता का कारण हो जाता है। शरीर का वास्तविक राजा मन ही है। इसी की आज्ञा से शरीर तिल तिल कट जाने से मुँह नहीं मोड़ता और इसी की आज्ञा से एक पत्ते के खटकने से भी भाग खड़ा होता है। बुद्धि, अनुभव आदि इसके शिक्षक हैं। ये ही सब मिलकर इसे जैसा बनाते हैं, वैसा ही यह बनता है। इच्छा इसी शिक्षित अथवा अशिक्षित मन की आज्ञा है। मन जितना ही दृढ़ अथवा डाँवाँडोल होगा, उसकी आज्ञा, इच्छा वैसी ही पुष्ट अथवा शिथिल होगी। जिसका मन पूर्णतया शिक्षित और स्ववश है, उसी की इच्छा में वज्रवत् दृढ़ता होगी। बिना ऐसी इच्छा-शक्ति के कोई पुरुष पूरा वीर नहीं हो सकता। इसी लिये

दृढ़ता वीरत्व की सब से बड़ी पोषिका है। जिसका मन उचित काम करने से तिलमात्र चलायमान होता ही नहीं और जो अनुचित कार्य्य देखकर बिना उसे शुद्ध किए नहीं रह सकता, वही सच्चा वीर कहलावेगा।

वीरत्व का द्वितीय पोषक न्याय है। बिना इसके वीरत्व शुद्ध एवम् प्रशंसास्पद नहीं होता। न्याय के सच्चा होने को बुद्धि की आवश्यकता है और साधारण न्याय को उदारता से अच्छी कांति प्राप्त होती है। अतः वीरता के लिये न्यायशीलता, उदारता और बुद्धि की सदैव आवश्यकता रहती है। सच्चे वीर को अन्याय कभी सह्य नहीं होगा। हमारे यहाँ वीरता का सर्वोत्कृष्ट उदाहरण भगवान् रामचंद्र का है। इन्हीं को महाकवि भवभूति ने महावीर की उपाधि से भूषित कर के महावीरचरित के नाम से इन की जीवनी एक नाटक में लिखी है। दंडकारण्य में जिस काल आपने निशिचरों द्वारा भक्षित ब्राह्मणों की अस्थियों का समूह निरीक्षण किया तो, तुरंत "निशिचर हीन करौं महि, भुज उठाय पण कीन्ह।" यही उत्साह का परमोज्ज्वल उदाहरण था, जो आपने निशाचरों से बिना किसी वैर हुए भी दिखलाया। समय पर आपने यह उद्दंड पण सत्य कर के दिखला दिया। इनकी इच्छा लोहे के समान पुष्ट थी, जो एक बार जाग्रत होने से फिर दब नहीं सकती थी। इच्छा और कर्म में कारण कार्य्य का संबंध है; सो कारण शिथिल होने से कार्य का होना कठिन होता है। कहते ही हैं कि बिना दृढ़ेच्छा के सदसद्विवेकिनी बुद्धि की आशा अरण्य-रोदन हो जाती है। शुभ-

कार्यारंभ के विषय में कहा है कि विघ्नभय से अधम पुरुष कोई शुभ कार्य का प्रारंभ ही नहीं करते; और मध्यम श्रेणी के लोग प्रारंभ करके भी विघ्न पड़ने पर उसे छोड़ बैठते हैं; किंतु उत्तम प्रकृतिवाले हज़ारों विघ्नों को दबाकर एक बार का प्रारंभ किया हुआ शुभ कार्य पूरा कर के ही छोड़ते हैं।

सत्यनिष्ठा भी शौर्य्य के लिये एक आवश्यक गुण है। वीर पुरुष लोभ को सदैव रोकेगा, ईमानदारी का आदर करेगा, असत्य भाषण से बचेगा, और अपना वास्तविक रूप छोड़कर कोई भी कल्पित भाव अथवा गुण प्रकट करने की स्वप्न में भी चेष्टा नहीं करेगा। संसार में साधारण पुरुष लोकमान्यता के लालच मे बहुधा सिद्धांतों को भंग करते हुए देखे गए हैं। सिद्धांतप्रिय पुरुष माने जाने की इच्छा लोगों की ऐसी बलवती देखी गई है कि लोगों द्वारा सिद्धांती माने जाने ही के लिये वे सब से बड़े सिद्धांतों को हँसते हुए चकनाचूर कर देंगे। जो लोकमान्यता के लोभ से सिद्धांत भग करने को तैयार नहीं है, वह पुरुष सच्चा वीर कहलाने के योग्य है। इस विषय का परमोत्कृष्ट उदाहरण हमारे उपनिषदों में सत्यकाम जाबाल का मिलता है। जिस समय यह पुरुषरत्न अपने गुरु के पास विद्याध्ययनार्थ उपस्थित हुआ, तो उन्होंने इसके माता पिता का नाम पूछा। सत्यकाम ने माता का नाम तो जबाला बतला दिया, किंतु पिता विषयक प्रश्न का यही सीधा उत्तर दिया कि मेरा पिता अज्ञात है; क्योंकि एक बार मेरे पूछने पर मेरी माता ने

कहा था कि जिस काल तेरा गर्भाधान हुआ था, उस मास मेरे पास कई पुरुष आए थे। सो मै नही कह सकती कि तू उनमें से किसका पुत्र है। इस उत्तर को सुनकर सत्यकाम का गुरु अवाक् रह गया; किंतु भावी शिष्य की सत्यप्रियता से परम संतुष्ट होकर उसने आज्ञा दी कि तू ही सत्यप्रियता के कारण अध्यात्म विद्या का सर्वोत्कृष्ट अधिकारी है। इतना कहकर गुरु ने उसे शिष्य किया और सत्यकाम का जाबाल नाम रख उसे अपने सब शिष्यों से श्रेष्ठतर माना। समय पर यही सत्यवादी पुरुष ब्रह्मविद्या का सर्वोत्कृष्ट पंडित हुआ। इस पुरुषरत्न का घर सत्य का अवतार था, इसका मन निर्मल था; और इसका बर्ताव उच्च था। इन्हीं बातों से एक जारज पुरुष होकर भी यह ब्रह्मविद्या का सब से ऊँचा अधिकारी हुआ। इसी लिये कहा गया है कि मन, बर्ताव और गृह मिलकर मनुष्य का चरित्र बनाते हैं।

वीरत्व का सर्व श्रेष्ठ समय बाल वय है। जितना उत्साह मनुष्य में इस अमूल्य काल में होता है, उतना और किसी समय नहीं होता। श्लाघ्य चरित्रवान् मनुष्यों को एक बालक जितना बड़ा मान सकता है, उतना कोई दूसरा कभी न मानेगा। बाल वय में मन सफ़ेद काग़ज़ की भाँति होता है। उस पर सुगमतापूर्वक चाहे जो लिख सकते हैं। उदार चरित्र-वालो मे वीरपूजन की मात्रा अधिकता से होती है और ऐसा प्रति पुरुष किसी न किसी को श्लाघ्य एवं महावीर अवश्य मानता है। केवल महा नीचों को ही संसार में कोई भी श्लाघ्य नहीं समझ पड़ता। जिसमें श्लाघ्य चरित्रपूजन की कामना

बलवती होती है, उसमें वीरता कम से कम बीज रूप से तो रहती ही है। स्यात् इन्हीं विचारों से हमारे यहाँ वीरपूजन की रीति चलाई गई हो। बिना दूसरों के गुण ग्रहण किए लोग प्रायः उदारचेता नहीं होते। इसी लिये वीरों में कोमलता और उदारता प्रायः साथ ही साथ पाई जाती है। प्रसन्नचित्तता भी उन्हीं बातों का एक अंग है। कहा गया है कि बुराई रोकने का पहला उपाय मानसिक प्रसन्नता है; दूसरा उपाय भी मानसिक प्रसन्नता है और तीसरा उपाय भी मानसिक प्रसन्नता ही है। बिना इसके बुराई रुक ही नहीं सकती। मानसिक प्रसन्नता का प्रादुर्भाव प्रेमभाव से होता है। जिस व्यक्ति से हम प्रेम करेंगे, वह उलटकर हमसे भी प्रेम करेगा। इसलिये जो संसार-प्रेमी होता है, उससे सारा संसार प्रेम करता है, जिससे वह सदैव प्रसन्न रहता है। ऐसी दशा में वह बुराई किसके साथ करेगा? प्रायः देखा गया है कि अपने साथ किसी की खोटाई का मूल कल्पना मात्र होती है। हम स्वयं असभ्यता कर बैठते हैं; और जब दूसरा उसके प्रतिफल मे हमारे साथ असभ्यता करता है, तब हम आत्मप्रेम से अंधे होकर समझ बैठते हैं कि वह निष्कारण हमारे साथ खोटाई करता है। इसलिये संभावित पुरुष को बुराई से सदैव बचना उचित है और क्षमा से अवश्य काम लेना चाहिए, क्योंकि बेजाने हुए भी हमारे द्वारा क्षमापात्र का अपकार हो जाना संभव है। खोटाई और निष्फलता का पहले ही से भय कभी न करना चाहिए; क्योंकि ऐसा करने से कोई इनको नहीं जीत सकते। इनके जीतने का सब से सुगम उपाय आशा ही है। इसी लिये कहा गया

है कि आशा न छोड़नेवाला स्वभाव भी बहुत ही मूल्यवान है।

स्वार्थ-त्याग वीरता का सब से बड़ा भूषण है। दास भाव ग्रहण करके यदि कोई विवाह-बंधन में पड़े, तो उसके इस कर्तव्य मे कुछ न कुछ क्षति अवश्य पहुँचेगी। वीरवर हनुमान ने जब भगवान् का दासत्व ग्रहण किया, तब आत्म-त्याग का ऐसा अटल उदाहरण दिखलाया कि जीवन पर्य्यंत कभी विवाह ही न किया। इधर भगवान् ने जिस काल यह देखा कि इनकी प्रजा इनके द्वारा सीताग्रहण के कारण इन्हें उच्चाति उच्च आदर्श से गिरा हुआ समझती है, तब इन्होंने प्राणोपम अर्द्धांगिनी सती सीता तक का त्याग करके अपने प्रजारंजनवाले ऊँचे कर्तव्य को हाथ से नहीं जाने दिया। बालवय में भी अपने पिता की बे-मन की आज्ञा मानने तक से इन्होंने तिल मात्र संकोच नहीं किया। आपने यावज्जीवन स्वार्थत्याग और कर्तव्य-पालन का ऊचा आदर्श दिखलाया, मानो य सदेह कर्तव्य होकर पृथ्वी पर अवतीर्ण हुए थे।

कार्य्य-साफल्य साधारण दृष्टि से वीरता का पोषक है, किंतु दार्शनिक दृष्टि से इसका शौर्य्य से कोई भी संबंध नहीं है। दार्शनिक शुद्धता प्रति वास्तविक वीर कर्म में आ जाता है, चाहे वह तिल मात्र भी सफल न हुआ हो और साधारण से साधारण पुरुष द्वारा संपादित हुआ हो। एक साधारण सैनिक जो अपने सेनापति की आज्ञा से मोर्चे पर

शरीर त्याग देता है, दार्शनिक दृष्टि से बड़े से बड़े विजयी के बराबर है। वीरता के मूल सूत्र कर्तव्य-पालन और स्वार्थ-त्याग हैं। बिना इनके कोई मनुष्य वास्तविक वीर नहीं हो सकता। एक बार दो रेलों के लड़ जाने से एक एंजिन हाँकनेवाला अपने एंजिन मे दबकर बायलर में चिपक रहा। वह मृतकप्राय था, किंतु उसके होश हवास नहीं गए थे, इसलिये वह जानता था कि बायलर जल्द फटकर उड़ेगा। सो जब और लोग उसे छुडाने के लिये प्रयत्न करने लगे, तब उसने उन सब को वहाँ से यह कहकर खदेड़ दिया कि मैं तो मरा ही हूँ, तुम सब यहां प्राण देने क्यों आए हो; क्योंकि भाप के बल से बायलर अभी फटना चाहता है, जिससे सब के प्राण जायँगे। मरणावस्था में भी दूसरों के लिये इतना ध्यान रखना वीरता का बड़ा लक्षण है।

वीरत्व के लिये भय का देखना तक ठीक नहीं कहा गया है। इसी लिये हमारे यहाँ वीर को शूर कहते हैं कि अंधे की भाँति वह भय को देख ही न सके। बालक, स्त्री, दीन, दुखिया आदि के उद्धार मे वीर पुरुष अपना जीवन तृण के समान दे देगा। सच्चा वीर निर्बल, भीत, कातर और स्त्री पर कभी किसी प्रकार का अत्याचार न करेगा। संसार में जिसकी पदवी जितनी ही ऊँची है, उसे उतनी अधिक वीरता दिखलानी चाहिए; क्योंकि उसकी वीरता से संसार का बहुत अधिक लाभ हो सकता है। इन्हीं कारणों से राजा को सब से अधिक वीर होना चाहिए। कहा ही है कि "वीरभोग्या वसुंधरा।" फिर भी छोटे से छोटे पुरुष

को भी उच्च सिद्धांतों से तिलमात्र नहीं हटना चाहिए; क्योंकि थोड़ी सी बुराई भी संसार में अपना फल दिखलाए बिना नहीं रहती। इसी से कहा गया है कि अनुभवी पुरुष को थोड़े से अवगुण की भी उपेक्षा नहीं करनी चाहिए; नहीं तो थोड़ा सा अवगुण उसमे अवश्य आ जायगा।

बारहवाँ अध्याय

न्याय और दया

साधारण जनसमाज में न्याय और दया में बड़ा ही घनिष्ट संबंध समझा जाता है और दया न्याय का एक प्रधान अंग मानी जाती है। इस स्थान पर हम यही विचार करेंगे कि इनमें वास्तव में क्या संबंध होना चाहिए। राज्य संबंधी विचार से जहाँ तक हम समझते हैं, इन दोनों में कुछ भी संबंध नहीं, वरन् न्याय के साथ दया का मिलना घोर अन्याय है। वर्त्तमान काल में न्याय क़ानून के अनुसार वर्त्ता जाता है। क़ानून में कहीं कहीं त्रुटियाँ होती हैं, इसी से कभी कभी न्याय के बदले अन्याय हो जाया करता है। जैसे आईन में जान बूझ कर नर हत्या करने का दंड वध अथवा जन्म भर के लिये कालापानी भोगना है; परंतु अनुभव से जाना गया है कि ऐसी हत्या करनेवाले भी कभी कभी इस दंड के पात्र नहीं होते; क्योंकि सब बातों का विचार कर के उनका आचरण उतना निंद्य नहीं कहा जा सकता। ऐसी दशा में सरकार ने न्यायाध्यक्षों को उक्त दंड के सिवा अपराधी को अन्य मुलायम दंड देने का अधिकार नहीं दिया। इससे ऐसे अभियोगों के पूर्ण वृत्तांत गवर्नमेंट के पास दया दिखाने के लिये भेज दिए जाते हैं। यदि सरकार उचित समझती है, तो अपराधी पर दया करती है। फिर या तो उसे बिलकुल

ही दंड नहीं देती, दंड की मात्रा समुचित रीति पर घटा देती है। इसी प्रकार अन्य अपराधों के संबंध में भी कभी कभी सरकार के पास रिपोर्ट जाती है, अथवा स्वयं अपराधी ही क्षमा किए जाने के लिए सरकार के पास विनय-पत्र भेजता है इस प्रकार की दया को दया कहना ही ठीक नहीं। सरकार निम्नलिखित तीन दशाओं में ही अपराधी को क्षमा-प्रदान करती है; अर्थात्—

(१) जब कई राजनीतिक कारणों से अपराधी का दंडित होना सरकार को अभीष्ट न हो।

(२) जब अदालत की इच्छा रहते हुए भी मुलायम दंड देने का अधिकार अदालत को न हो, और सरकार भी अदालत से सहमत हो।

(३) जब सरकार की निगाह में न्यायाध्यक्ष की भूल से किसी को अनुचित कठोर दंड मिलने की आज्ञा हो गई हो।

इन तीनों दशाओं में से किसी में भी दया की झलक तक नहीं। प्रथम में राजनीतिक, न कि दया संबंधी, कारणों से अपराधी दंडित नहीं होता; दूसरी में न्यायाध्यक्ष को पूरा न्याय करने का अधिकार नहीं; सो मानो सरकार उसके आसन पर बैठ जाती है। और तृतीय दशा में सरकार न्यायाधीश की भूल को ठीक कर देती है। किसी अपराधी का दया द्वारा छूटना तभी कहना चाहिए, जब उसके छुटकारे का कोई अन्य कारण वर्तमान ही न हो। ऐसी दशा में सरकार अपराधी को कभी क्षमा नहीं करती।

अब यह प्रश्न उठता है कि न्यायाध्यक्ष को किसी अन्य समुचित कारण की अनुपस्थिति में अपराधी पर दया करनी चाहिए या नहीं। इस विषय में सबसे प्रथम तो यही वक्तव्य है कि आईन के अनुसार सिवा सरकार के और किसी को न्याय में दया करने का अधिकार नहीं है। अतः न्यायाध्यक्ष को दया से कोई सरोकार नही, और बिना बेईमानी किए वह दया नहीं कर सकता। फिर केवल दया के कारण दंड न दिए जाने के फल बड़े ही भयंकर होते हैं। रूस, इटली तथा बेलजियम देशों और जर्मनी तथा स्विट्जरलैंड के कतिपय प्रांतों में किसी को प्राणदंड नहीं दिया जा सकता। फ्रांस और अमेरिका में प्राणदड की आज्ञा शायद ही कभी होती हो, और आज्ञा होने पर भी अपराधी अधिकतर दशाओं में क्षमा कर दिया जाता है। फ्रांस में काले पानी भेजे हुए लोगों की दशाएँ ऐसी अच्छी समझी जाती हैं कि इस दंड का आनंद लूटने ही को बहुतों ने, जिनकी दशा उस देश में अच्छी न थी, नर-हत्याएँ कर डालीं और अदालत में यही बयान भी कर दिया। एक स्त्री ने अपने सोते हुए पति को गोली से मार डालने के अपराध में केवल पाँच साल की सज़ा पाई। रूस में एक मनुष्य ने दो खून करने के अपराध में केवल यही दड पाया कि वह आठ साल साइबेरिया में रहे। १९०३ ई० में अमेरिका के शिकागो शहर में ११८ खून हुए और लंडन में जो शिकागो से तिगुना है, केवल २० हत्याएँ हुईं। अमेरिका के जार्जिया प्रदेश में १०० हत्यारों में से केवल एक को फाँसी होती है; पर इंगलैंड में एक तिहाई हत्यारों के प्राणदड पा जाने का परता

बैठता है। लेखों से ज्ञात हुआ है कि भयंकर घोर युद्ध में जितने अँगरेज मारे गए, उनके प्रायः आधे मनुष्य यूनाइटेड स्टेट्स अमेरिका में प्रति वर्ष हत्यारों द्वारा प्राण खो बैठते हैं। १८०० ई० में उक्त देश में ८००० मनुष्य हत्यारों के हाथों से मारे गए, पर केवल ११७ हत्यारों को फाँसी हुई। इन सब बातों से प्रत्यक्ष प्रतीत होता है कि न्याय के साथ दया जितनी ही मिलाई जाती है, उतना ही अन्याय एवं अत्याचार प्रबल हो उठता है। होना ही चाहिए। अत्याचार तो केवल दंड के भय से रुकता है। जब दंड का भय ही नहीं, अब यह आशा है कि अत्याचार कर के किसी न किसी प्रकार दंड से बच जायँगे, तब अत्याचार क्यों न बढ़े? अतएव अदालत के सम्मुख यह प्रश्न उपस्थित होता है कि या तो अपराधी को दंड दो, या उस पर दया करके भविष्य में निर्दोष मनुष्यों पर अत्याचार का होना उत्तेजित करो। जिस अपराधी ने किसी निर्दोष मनुष्य को अकारण ही मार डाला, अथवा उसपर कोई अन्य अन्य अत्याचार किया, उसके विषय में दया का प्रश्न उठना ही घोर अन्याय और निर्दयता है। दया तो मज़लूम (सताए हुए मनुष्य) और उसके कुटुंबियों पर करनी चाहिए, न कि ज़ालिम (अत्याचारी) पर। प्रतिवादी को पूरा दंड मिलने पर भी यही होता है कि वादी और प्रतिवादी दोनों को दंड मिला, क्योंकि वादी को तो प्रथम ही से प्रतिवादी ने दंडित कर रक्खा है। इस पर भी बेचारे वादी को बिना अपराध दंड मिला, और प्रतिवादी को अत्याचार करने पर। इससे प्रतिवादी को पूर्ण दंड मिल जाने पर भी वादी का पूरा बदला नहीं चुकता।

हर मनुष्य को यह नैसर्गिक अधिकार है कि वह अपने ऊपर अत्याचार करनेवाले से पूरा बदला ले। पर इसमें भय रहता है कि वह या उसके स्वजन आत्म-स्नेह के कारण अपराधी को उचित से बहुत अधिक दंड दे डालेंगे। अतएव सरकार ने सताए हुए लोगों से यह अधिकार अपने हाथ में ले लिया है। ऐसी दशा में यदि अदालत अपराधी पर दया करके उसे उचित दंड न दे, तो सताए हुए निर्दोष मनुष्य के साथ बड़ी ही निर्दयता का व्यवहार होगा। इससे स्पष्ट है कि यदि किसी मनुष्य को अपराधी पर दया करने का अधिकार हो सकता है, तो वह वादी है। इससे बिना उसकी स्पष्ट सम्मति के हाकिम को अपराधी पर दया करने का ज़रा भी अधिकार नहीं। न्यायाध्यक्ष कभी कभी सर्वप्रिय होने तथा नेक, रहमदिल और ग़रीबपरवर कहलाए जाने के लालच से अत्याचारियों पर दया कर बैठते हैं; पर वे नहीं सोचते कि इस मानसिक निर्बलता और क्षुद्र आत्म-स्नेह के कारण वे मुद्दई (वादी) पर कितना घोर अत्याचार कर रहे हैं। "सर्वप्रिय" होना, अथवा "नेक, रहमदिल, ग़रीबपरवर" कहलाना भी हमारे सुख की वैसी ही सामग्रियाँ हैं, जैसे दानी होना, उत्तम भोजन करना, बढ़िया सजावट के मकान और सवारी आदि रखना, इत्यादि। इनमें किसी से तो मानसिक सुख होता है और किसी से दैहिक। सो जैसे सुख की अन्य सामग्रियों का मूल्य होता है, वैसे ही "रहम-दिल" आदि कहलाने की भी कीमत अवश्य देनी पड़ती है, परंतु खेद यह है कि ऐसा बहुमूल्य सौदा तो न्यायाध्यक्ष जी ने खरीदा, पर उसकी कीमत उन्होंने स्वयं न देकर बेचारे

निरपराध सताए हुए वादियों से उनकी इच्छा के प्रतिकूल दिलाई। धिक्कार है ऐसी "सर्वप्रियता, नेकी, रहमदिली और गुरबापरवरी" पर। यदि वादी के बदले न्यायाधीश जी पर वही अथवा उससे भी छोटा अत्याचार हुआ होता, तो वे अपनी "अगाध दया" को एक दम भूल जाते और अपराधी का रक्त ही चूस लेने को प्रस्तुत होते। परंतु दूसरे पर अत्याचार होने से उनकी यह सुनने की इच्छा बलवती हो उठती है कि "भाई! अमुक हाकिम बड़ा ही रहमदिल है," इत्यादि। दया करनेवाले हाकिम को हम डाकू से भी बुरा समझते हैं; क्योंकि वह सौदा (नेकनामी आदि) खरीदकर एक बार के सताए हुए निरपराध वादी को लूटता और उससे अपने सौदे का मूल्य दिलाकर उसपर दूसरा अत्याचार करता है। वादी पर एक अत्याचार तो सताए जाने का हुआ, दूसरा बदला न मिलने का। हमारी समझ में तो यदि कोई ऐसी कल होती, जो साक्षी इत्यादि के कथन सुनकर उन पर ध्यान दे उचित निष्कर्ष निकालकर अपराधी को समुचित दंड दे सकती, तो वह सर्वोत्तम न्यायाधीश होती। जो न्यायाध्यक्ष अपनी मानसिक दुर्बलताओं को छोड़कर इस कल की जितनी ही बराबरी कर सके, वह उतना ही अच्छा हाकिम होगा। अतएव हमारी समझ में अत्याचार-विवर्द्धिनी दया का न्याय से कुछ भी संबंध न होना चाहिए। हम यह नहीं कहते कि अदालत को अपराधी पर अनुचित कठोरता करनी चाहिए, पर उचित दंड न देना भी वैसा ही पाप है, जैसा अनुचित दंड दे डालना।

अब तक हमने न्यायालय संबंधी दया और न्याय पर विचार किया है। इससे प्रिय पाठकों को ऐसा भ्रम हो सकता है कि हम दयाहीन न्याय का पक्ष प्रतिपादित करते हैं। यह कदापि ठीक नहीं। सत्पुरुषों ने दंड के विधान में ही दया का पूरा समावेश किया है। सबसे पहला विचार यही है कि मनुष्य को जहाँ तक हो सके, दंड मिलना ही न चाहिए, क्योंकि दुःख देना समाज का काम नहीं है। फिर भी रोग होने पर वैद्य न चाहते हुए भी रोगी को कटु औषध देता है। ऐसी औषधि देकर रोगी को कष्ट देना वैद्य को अभीष्ट नहीं, किंतु स्वास्थ्य शुद्धीकरण के लिये वह आवश्यक है। अतः कटु औषध एक आवश्यक दुःख है जिसका होना रोगी की ही भलाई के लिये अनिवार्य्य है। यही दशा आचार शुद्धीकरण के लिये न्यायालय संबंधी दंड की है। दंड भी समाज और व्यक्ति दोनों के लिये कटु औषध है। दंड कभी केवल समाज शुद्धीकरणार्थ होता है और कभी समाज तथा व्यक्ति दोनों की शुद्धि इसके द्वारा होती है।

यह विषय अत्यंत सुगम नहीं है, सो हम एकाध उदाहरण के साथ इसका वर्णन उचित समझते हैं। हिंदू धर्म शास्त्र में लिखा है कि जब अपराधी राजदंड पा जाता है, तब उस दोष के लिये ईश्वर के यहाँ वह दंडित नहीं होता; अर्थात् राजदंड मरणांतर संबंधी लगनेवाली कालिमा को धो देता है। यह धार्मिक विचार अनुमानसिद्ध भी समझ पड़ता है। यदि यह मान लिया जाय तो राजदंड सदैव व्यक्ति और समाज दोनों की भलाई के लिये सिद्ध होगा।

फिर भी आचार शास्त्र के कोई ग्रंथ धर्म, पुनर्जन्म, ईश्वर आदि के विचारों को मानकर नहीं चलते, वरन् सीधे तार्किक सिद्धांतों पर ही अवलंबित रहते हैं। इसलिये साधारण विचारों से प्राणदंड तथा जीवन पर्य्यंत की कैदवाले दंड केवल समाज शुद्धीकरण के लिये हैं, किंतु शेष सब दंड समाज और व्यक्ति दोनों के हितार्थ दिए जाते हैं।

पहले समय में जब तक सामाजिक विचार उन्नत नहीं हुए थे, लोग नाक के बदले नाक और कान के बदले कान काटने का दंड उचित समझते थे। धीरे धीरे जब मनुष्य जाति ने मानसिक उन्नति विशेषता से की, तब ऐसे कठोर दंड दयाहीन एवं अनुचित समझे जाने लगे। लोगों ने समझा कि अपराधी ने अवश्य दुष्टता से वादी को कष्ट दिया है; किंतु समाज तो दुष्ट नहीं हो सकता कि कान काटने के बदले कान ही काट ले। इसलिये उतना ही दंड देना योग्य समझा गया कि जो समाज और व्यक्ति के शुद्धीकरण के लिये काफ़ी हो और जिस के भय से भविष्य के अपराधी अपराध करने से बचे रहें। ऐसे विचार पहले तो दया के कारण उठे, किंतु पीछे से सभ्यता के अंग होकर न्याय संबंधी विचारों में मिल गए; यहाँ तक कि समय पर इनका दया से कोई संबंध न रहा और ये शुद्ध न्याय के अंग हो गए, जैसा कि तार्किक शुद्धता से इन्हें सदैव होना चाहिए था। पीछे से अधिक उन्नति होने से जन्मकैद की सीमा केवल बीस वर्ष की कैद रह गई, अर्थात् जन्मकैदी यदि बीस वर्ष कारागार भोग चुके, तो वह मुक्त कर दिया जाता है। प्राणदंड के विषय में भी

मतभेद उठा। कुछ देशों में यह सिद्ध हुआ कि प्राणदंड किसी दशा में न देना चाहिए। वहाँ सब से कठोर दंड जन्मकैद ही है। अन्य देशों में अब तक प्राणदंड चलता है।

इन विचारों से यह सिद्ध हुआ कि एक प्रकार से दया न्याय का अंग है; क्योंकि बिना इसके न्याय की पूर्णता नहीं होती। फिर भी तार्किक शुद्धता से विचार करने पर यही सिद्ध हो गया कि दया का वह अंश वास्तविक दया न होकर न्याय ही है। इसी लिये उसे संसार ने दया न मान कर न्याय ही माना है। इससे बढ़ कर यदि न्याय में दया मिलाई जायगी, तो वह न्याय अन्याय हो जायगा।

यहाँ तक राजदंड तथा राज्य संबंधी न्याय और दया का विचार किया गया। किंतु अब इसी भाव का व्यक्ति संबंधी कुछ कथन आवश्यक है। वास्तव में न्याय का विचार राज्य और व्यक्ति दोनों पर समान रूप से वाच्य है, किंतु साधारण विचार से राजन्याय ही प्रधान समझ पड़ता है। इसी लिये न्याय का नाम लेते ही सहसा राजन्याय पर ध्यान जाता है। फिर भी व्यक्तिगत न्याय राजन्याय से कम सारगर्भित नहीं है। अब इसी का कुछ विचार हम आगे सूक्ष्मता से करेंगे।

न्याय का मूल सूत्र साम्य है। कर्तव्य-शास्त्र का यह सब से बड़ा अंग है। बिना इसके कोई भी आचार शुद्ध नहीं कहा जा सकता। सब के साथ यथायोग्य व्यवहार का

होना ही न्याय है। यथायोग्य व्यवहार क्या है, इस का विचार सरल नहीं है। इसी प्रश्न के समुचित उत्तर पर सारे धर्म्मों, समाजों, राज्यों, व्यापारों, कुटुंबों आदि के सिद्धांत निर्भर हैं। इसलिये ऐसे वृहत् विषय का कथन न्याय के अंतर्गत नही हो सकता। एक प्रकार से इस ग्रंथ का लक्ष्य इसी प्रश्न का यथोचित उत्तर देना है। वास्तव में पूर्ण न्यायी कोई भी धार्मिक, सामाजिक, कौटुंबिक, राजनीतिक आदि किसी प्रकार का अपराध नहीं कर सकता। इसी लिये न्याया-ध्यक्ष का पद बहुत ऊँचा माना गया है। प्रत्येक मनुष्य का यह पवित्र कर्तव्य है कि यथासंभव न्याय को हाथ से न जाने दे। जिसके साथ जैसा व्यवहार उचित है, वैसा ही करना कर्तव्य-पालन है।

किसी उचक्के का भलेमानस की भाँति पूजन करना वैसा ही गर्हित है जैसा कि पूज्य का पूजन-भंग। किसी के साथ ऐसा व्यवहार न हो जिससे आप की प्राचीन कार्रवाई को सोचते हुए कोई प्रवीण पुरुष आश्चर्य्य कर सके; और यदि कभी ऐसे आश्चर्य्य होने का समय आवे भी तो वह आप के भद्रत्व वर्द्धन संबधी भले ही हो, किंतु प्रतिकूल कभी न होना चाहिए। जिसने आप के साथ जितनी भलाई कर रक्खी है, समय पर उसके बदले वह जितनी आशा कर सकता है, उससे कभी आप के आचरणों से कमी न प्रकट होनी चाहिए। शत्रुता एवं बदला लेने की वृत्तियों में चाहे जितनी कमी हो जाय, वह सब अच्छी है, किंतु भलाई की ओर कमी का होना सर्वथा अनुचित है।

यहाँ तक तो व्यक्ति संबंधी न्याय को सूक्ष्म कथन हुआ। अब यह प्रश्न उठता है कि इस न्याय में दया कहाँ तक मिल सकती है। ऊपर कहा जा चुका है कि राज्यन्याय में दया का मिलाना अन्याय का कारण होता है। व्यक्ति संबंधी न्याय से राज्यन्याय का यही अंतर है कि पहले में दया का मिलना न केवल संभव, वरन् बहुत अच्छा है। व्यक्तिगत न्याय का राज्य संबंधी न्याय से यह भारी अंतर है कि पहले में वादी स्वयं न्यायकर्ता होता है; किंतु दूसरे में वादी तो कोई व्यक्ति होता है किंतु न्यायकर्ता राजा, जो अपराध राज्य के प्रतिकूल होता है, उसमें भी कहने को तो राजा ही वादी होता है; किंतु वास्तव में सारे प्रजावर्ग वादी हैं, क्योंकि राजा उनका प्रतिनिधि मात्र है। राज्य की स्थापना राजा के सुखार्थ नहीं है; वरन् प्रत्येक राज्य सर्वसाधारण के लाभार्थ स्थिर है और उन्हीं का उस पर पूर्ण स्वत्व है। राजा तो उनका प्रतिनिधि मात्र होकर उनके भले के लिये उसे चलाता है। इसलिये राजा राज्य के प्रतिकूल भी कोई अपराध केवल इच्छा से क्षमा नहीं कर सकता, वरन् उस क्षमा प्रदान के भी अच्छे कारण होने चाहिएँ। यदि राजा को समझ पड़े कि अपराधी का आचार-शुद्धीकरण दंड की अपेक्षा क्षमा से विशेष होगा, तो उसका कर्त्तव्य है कि प्रत्येक अपराध में क्षमा प्रदान करे। किंतु यह क्षमा दयावश न होकर न्याय का एक प्रधान अंग मानी जायगी। इधर कोई व्यक्ति अपने तथा अपने लड़के वालों के प्रतिकूल कोई अपराध उदारता से भी क्षमा कर सकता है। ऐसी क्षमा मनुष्यत्व का भूषण तथा लोकोन्नतिकारिणी होती है। जो अपराधी

व्यक्तिगत क्षमाओं को उदारता न समझे और उन्हें कादरता मानकर नए नए अपकार करता ही जाय, उसे राज्य संबंधी क्षमा का भी पात्र न समझना चाहिए। इसलिये व्यक्तिगत क्षमा एक प्रकार से राज्य संबंधी क्षमा के लिये कसौटी का काम करती है।

दया भी कई प्रकार की होती है। बहुत स्थानों पर वह निर्बलता की सहगामिनी होती है और उसी का चिह्न समझी जाती है। जो मनुष्य अपने में बदला लेने की शक्ति न देख कर किसी का अपराध सामर्थ्याभाव से क्षमा करता है, उसकी क्षमा वास्तव में क्षमा है ही नहीं। फिर भी मूर्खों में यह बानि प्रायः देखी गई है कि वे उदारता संबंधी दया को भी कादरताजन्य मान कर उससे तादृश लाभ नहीं उठाते। ऐसे नराधमों के लिये दया का प्रयोग वैसा ही है जैसा शूकरों के आगे मोतियों का रखना। फिर भी ऐसी दशाओं में भी दया के अभाव को क्रोध में कभी न मिलाना चाहिए। आप किसी पर दया न करने का अधिकार रखते हैं, किंतु क्रोध करने का नहीं। उचित स्थानों पर भी दया न करने से केवल उदारता का अभाव माना जायगा, पातक नहीं। किंतु किसी भी स्थान पर क्रोध करना पातक है, जैसा कि आगे के अध्याय में दिखलाया जायगा। इसलिये दया के अभाव और क्रोध में जो अंतर है, वह सदा ध्यान में रखना चाहिए।

कुल बातों का सारांश यह है कि दया और न्याय में कोई तार्किक संबंध नहीं है; राज्य संबंधी न्याय दया से मिलने से अन्याय हो जाता है; व्यक्ति संबंधी न्याय का दया भूषण है; किंतु दया का अभाव अन्याय न होने से कोई पातक नहीं है। इसे क्रोध से सदैव पृथक रखना चाहिए।

—— —

तेरहवाँ अध्याय

क्रोध-शांति

सभी लोग जानते हैं कि क्रोध बुरा होता है—उससे हानि छोड़कर कोई लाभ नहीं हो सकता। इसलिये जहाँ तक बन पड़े, उससे दूर ही रहना चाहिए। पर उसको सँभालना भी कोई कम कठिन काम नहीं है। एक प्रसिद्ध ग्रंथकार ने कहा है कि बुद्धिमान् वह है, जिस पर मर्मभेदी बातों का प्रभाव ही न हो। भला यह भी कोई बुद्धिमानी की बात है कि आप ऐसा सुनते ही जामे के बाहर हो जायँ कि अमुक व्यक्ति ने आपके विषय में यह कहा था कि आप बुरे हैं, या आपका मुख सुडौल नहीं बना है, या आप में गंभीरता नही है? बुद्धिमान और गंभीर लोग वे ही हैं जिन्हें क्रोध आता ही नहीं, अथवा जो अपने क्रोध को ऐसा दबा देते हैं कि वह किसी पर प्रकट नहीं होने पाता। छोटी छोटी बातों पर आँखें लाल कर लेना मन की दुर्बलता ही प्रगट करता है। प्रायः देखा गया है कि लक्ष्मीवान् मनुष्यों की अपेक्षा कंगालों को, मोटे ताजे लोगों की अपेक्षा दुबले पतले और रोगी आदमियों को, युवाओं के सामने लड़कों और बूढ़ों को, तथा पुरुषों की अपेक्षा स्त्रियों को क्रोध अधिक शीघ्रता से आ जाता है। इन्हीं लोगों को, जो स्वास्थ्य रहने पर बड़े सीधे सादे देखे गए हैं, बीमारी में बिना किसी कारण के ही

क्रोध आ घेरता है। इन सब बातों से स्पष्ट विदित होता है कि क्रोध दुर्बलता का चिह्न है और वह उन्हीं लोगों को विशेष रूप से व्यथित करता है, जो ओछे अथवा अदृढ़ चित्त के होते हैं। इसलिये प्रत्येक समझदार स्त्री पुरुष का काम है कि जहाँ तक बन पड़े, क्रोध के वश हो कर अपना ओछा-पन संसार पर न प्रकाशित करे। क्रोध वे ही लोग करते हैं जिनमे कुछ न कुछ छिछोरापन और दुर्बलता होती है; और जो जितना ही बड़ा और गंभीर होगा, उसमें उतना ही कम क्रोध पाया जायगा। इससे आप जितना कम क्रोध प्रकाशित करेंगे, उतना ही आपको लोग बुद्धिमान् और प्रतिष्ठित मानेंगे। भला ऐसा कौन स्त्री या पुरुष होगा, जिसकी यह आंतरिक इच्छा न हो कि लोग मुझे भला समझें? पर तो भी ऐसे बहुत कम लोग हैं जो अपने क्रोध को सँभाल सकते हों। इसी से विदित होता है कि क्रोध का सम्हालना एक बड़ा ही कठिन काम है। नहीं तो सभी लोग उसे अपने बस कर भले कहलाने लगते।

ईश्वर की कुछ ऐसी लीला है कि वह जल्दी समझ में नहीं आती। हम अनेक काम इस विचार से करते हैं कि लोग हमें बड़ा और प्रतिष्ठित समझें। पर प्रायः देखा गया है कि उन्हीं कामों से वास्तव में संसार पर उलटे हमारी तुच्छता विदित होती है। क्या आपने कभी यह नहीं देखा है कि एक मनुष्य इस कारण जामे के बाहर हो गया था कि उसे किसी समाज में उचित स्थान पर नहीं बिठलाया गया? ऐसी दशा में समझदार लोग तक अपने को बिल्कुल भूलकर गुस्से में

ऐसी अनुचित बातें करते देखे गए हैं कि लोगों ने समझ लिया कि उनमें तुच्छता की मात्रा बहुत है। उस विचारे ने क्रोध तो इसलिये किया कि उसे लोग प्रतिष्ठित समझें; पर फल उलटा यह हुआ कि जो कुछ लोगों की दृष्टि में उसकी प्रतिष्ठा थी, सो भी नष्ट हो गई।

कहा जाता है कि 'भक्तमाल' के कर्ता महात्मा नाभा दास जी के यहाँ एक बेर उस समय के प्रायः सभी महात्मा इकट्ठे हुए। उस समय कुछ लोगों ने कहा कि यह तो अच्छी 'भक्तमाल' इकट्ठी हुई है, पर कहीं इसका सुमेर भी खोजना चाहिए। इस पर यह विचार हुआ कि कहीं कोई भक्तशिरोमणि ढूँढ़ा जाय जिसमें 'भक्तमाल' पूरी हो जाय। अस्तु; यह बात उस समय वहीं पर रह गई और भक्तजनों की जेवनार का प्रबंध होने लगा। परोसते समय पत्तलवाला श्री गोस्वामी तुलसीदासजी के सामने, जो पंक्ति के एक किनारे बैठे थे और जिन्हें बीच में सब से बड़ा बनकर बैठने की लालसा न थी, पत्तल रखना भूल गया। जब परोसनेवाला उन तक पहुँचा, तब वह लगा सोचने कि किस वस्तु मे मैं इन्हें भोजन परोसूं! गोस्वामी जी ने चट समाज से थोड़ा सा और अलग खिसककर एक भक्त का जूता उठा लिया और उसे परोसनेवाले के आगे करके कहा कि—'भला इससे बढ़ कर मेरे लिये और पात्र क्या हो सकता है! इसी में आप सहर्ष मेरा अंश परोस दीजिए; क्योंकि यह तो एक भक्त का जूता है।' ऐसा देख सुनकर लोग सन्नाटे में आ गए। पर महात्मा नाभादास जी दौड़कर गोस्वामी जी के पैरों पर गिर पड़े और सब-

भक्त जनों से कहने लगे—"हम लोग अभी 'भक्तमाल' के लिये 'सुमेर' ढूँढ़ रहे थे। सो वह सुमेर तो हम लोगों के बीच यहीं उपस्थित है।" ऐसा सुन सभी भक्तजन एक स्वर से कहने लगे—'सचमुच गोस्वामी जी ही 'भक्तमाल' के सुमेर हैं"। और सब उठ उठकर उन्हें दंड प्रणाम करने लगे। तब से श्री गोस्वामी जी भक्तों के सुमेर कहलाए। अब हम पूछते हैं कि यदि गोस्वामी जी सब से ऊँचे न बिठलाए जाने पर भक्त समाज से उठकर वाहियात बातें बकते हुए चल देते, तो उनकी उस समय क्या प्रशंसा बढ़ती और आज दिन उनका क्या यश होता?

प्रसिद्ध कवि मलिक मुहम्मद जायसी काने और कुरूप थे। एक बेर एक राजा उन्हें देखकर मुस्कराया। जायसी ने उसकी मूर्खता समझकर क्रोध के बिना बड़े शांत भाव से इतना ही पूछा—"मोहि का हँसेसि कि कोंहरै?" अर्थात् हे राजन्! तू मुझ मिट्टी के पुतले पर हँसता है अथवा उस कुम्हार (अर्थात् ब्रह्मा) पर जिसने मुझे अपने इच्छानुसार बनाया है?' राजा लज्जा से सिर नीचा कर जायसी से क्षमा माँगने लगा और उसे अपनी मूर्खता पर बहुत पछताना पड़ा। सच है, यदि कोई मनुष्य अंधवा, काना, काला, लँगड़ा अथवा और किसी प्रकार से कुरूप हो, यदि उसकी नाक सुडौल न हो, यदि उसका मुँह कुछ टेढ़ा हो, यदि उसके दाँत कुछ खुले रहते हों, तो इसमें उसका क्या दोष है? उसे इन त्रुटियों के कारण चिढ़ाने से क्या चिढ़ानेवाले ही की मूर्खता विदित नहीं होती? पर यदि कोई मनुष्य इन दोषों

पर किसी को छेड़े और वह दूसरा मनुष्य उस पर लाल पीला होने लगे, तो समझ लेना चाहिए कि दो मूर्खों का सामना हो गया है। फारसी के प्रसिद्ध कवि शेख़ सादी ने क्या ही अच्छा कहा है—

"दो बुद्धिमानों में लड़ाई दंगा नहीं होता; और न एक समझदार आदमी किसी ओछे आदमी से ही झगड़ा करता है। पर यदि कहीं दोनों ही ओर मूसरचंद जुट गए, तब तो जंजीर से बाँधे जाने पर भी वे तुड़ा तुड़ाकर अवश्य ही एक दूसरे का सिर तोड़ेंगे।"

लोग छेड़ते और चिढ़ाते उसी को हैं, जो चिढ़ता है। सभी जगह ऐसे दो एक मनुष्य होते हैं, जो चिढ़नेवाले प्रसिद्ध हैं। आप देखिएगा कि सब लोग लौट लौटकर उन्हीं को छेड़ते हैं; क्योंकि उन्हें छेड़ने से लोगों को आनंद मिलता है। वे लोग छेड़े जाने से खूब चिढ़ते और छेड़नेवालों को भली बुरी बातें कहते हैं। यहाँ तक कि कभी कभी वे चिढ़ानेवालों को मारने तक दौड़ते और मार भी देते हैं। पर वैसे ही दिल्लगी-बाज लोग, जिन्हें अपनी प्रतिष्ठा की भी कुछ परवाह नहीं होती, उनको और भी अधिक चिढ़ाते और बनाते हैं। यदि किसी गपोड़ ने किसी समझदार मनुष्य के साथ कभी छेड़-छाड़ की और दूसरा कुछ भी न चिढ़ा, तो उलटे उसी छेड़ने-वाले को लज्जित होना पड़ता है; और फिर उस आदमी को वह कदाचित् कभी नहीं छेड़ता। सच है, छेड़ने का आनंद तभी आता है, जब उसका लक्ष्य खूब चिढ़े और बिगड़े।

विचार करने से ज्ञात होगा कि वास्तव में क्रोध एक

प्रकार का उन्माद है; क्योंकि दोनों के लक्षण बहुत कुछ मिलते हैं। दोनों ही दशाओं में आँखें और चेहरा लाल हो जाता है, मुँह से ठीक वाक्य नहीं निकलते, शरीर काँपता है और उचितानुचित का विचार नहीं रह जाता। क्रोध के आवेग में लोग बड़ों और प्रतिष्ठितों तक को गालियाँ देने लगते, स्वयं अपने ऊपर आघात कर बैठते, देव पितरों को भला बुरा कहते और जगदीश्वर तक को गालियाँ दे बैठते हैं! हमने एक कर्कशा स्त्री को देखा है जो एक बार अपने पति पर इतना बिगड़ी कि मारे क्रोध के उसने अपने सौभाग्य-चिह्न, चूड़ियों, को तोड़ डाला और अपनी बिरादरी में घर घर कह आई कि "फलाँ पाँड़े आज मर गए।" यद्यपि पति भला चंगा घर में बैठा था! क्रोध में लोग अपने होंठ काटते, कपड़े फाड़ते और अपने को तमाचे लगाते देखे गए हैं। भला यह सब पागलपन नहीं तो और क्या कहा जा सकता है?

अन्य प्रकार के जितने दोष हैं, वे प्रायः सभी थोड़े बहुत छिपाए जा सकते हैं, पर क्रोध ऐसा नहीं है। ब्योरा लगाने से जान पड़ेगा कि क्रोध से संसार की जितनी हानि हुई है, उतनी और किसी बात से नहीं हुई। इसके बस में होकर लोग न जाने क्या क्या अनुचित कार्य कर डालते हैं, जिन्हें कहते संकोच होता है। जैसे जमीन पर गिर पड़ने से लड़के उसे मारने लगते हैं, इसी तरह क्रोधी लोग निर्जीव पदार्थों पर भी अपना क्रोध उतारते हैं। लंप अच्छी तरह नहीं जलता और कई बार सुधारने पर भी ठीक नहीं होता, उसे पटक दो; इस कपड़े का दाग बहुत छुड़ाने पर भी न गया,

इस कपड़े को फाड़ कर फेंक दो; छाता बार बार ठीक रखने पर उलट कर गिर पड़ता है, उसे तोड़ डालो; घड़ी बार बार सुधारने पर भी ठीक समय नहीं बतलाती, उसे पटक दो; यह पुस्तक बहुत अशुद्ध छपी, इसे फूँक दो; इस प्रकार के काम क्रोधियों के लिये कोई असंभव नहीं हैं। ऐसे ही लोग जानवरों पर क्रोध करने लगते हैं और उन्हें बिना कारण ही दंड दे डालते है। यदि कोई घोड़ा ठोकर ले ले अथवा लात मार दे, तो उसे उसके बदले में पीटने से क्या लाभ? क्या वह घोड़ा जान जायगा कि मैं इस कारण पीटा गया? क्रोधी लोग ईश्वर तक पर ऐसे ऐसे कारणों से कुपित हो जाते हैं कि उसने वर्षा अच्छी नहीं की! अथवा जाड़ा बहुत कर दिया!! अथवा उन्हें रुपएवाला न बनाया!!! वे यह नहीं समझते कि संसार केवल मनुष्य ही के लिये नहीं बना है; इसमें करोड़ों प्रकार के जीव हैं और ईश्वर अथवा प्रकृति वही करती है, जिसमे सब का कल्याण हो। ऐसी दशा में मनुष्य का ईश्वर पर क्रोध करना वैसा ही है जैसे चिउँटे उस पर इस कारण बिगड़ जायँ कि उसने संसार भर में गुड़ ही गुड़ न रख दिया, अथवा हलवाइयों की मठोरों में उसने छिद्र न बना दिए! कभी कभी देखा गया है कि क्रोध में अंधे होकर लोग ईश्वर से यह प्रार्थना करने लगते हैं कि वह उनका अथवा उनके संतान का सर्वनाश कर डाले, उनकी लक्ष्मी हर ले, उनका सभी कुछ बिगड़ जाय! वे लोग अपना ही मुँह पीटने लगते हैं, भोजन छोड़ कई दिनों तक भूखे रह जाते हैं, और ऐसे ही अनेक अनर्थ कर बैठते हैं, पर तो भी अपने होश को ठिकाने माने

जाते हैं !! निदान ऐसी बातें करना यदि उन्माद नहीं तो क्या है ?

सुना जाता है कि रोम के एक राजा ने अपने शत्रु पर चढ़ाई की; पर राह में एक नदी के घुमाव ने दो तीन बार उसे रुकावट डाली। इस पर गुस्से में आ कर राजा ने आज्ञा दी कि इस नदी को पटवाकर तब आगे बढ़ूँगा। इस तरह जब तक वह नदी पटवाता रहा, उसके शत्रु ने मौके से आकर उस पर हमला किया और उसे सेना सहित नष्ट कर डाला। भला ऐसी मूर्खता का और क्या परिणाम हो सकता था ?

कुछ लोगों का मत है कि अपने ही लिये जो क्रोध उत्पन्न होता है, वह तो अवश्य बुरा है; पर जो क्रोध अन्य मनुष्यों पर कोई अत्याचार होते देखकर उभड़ता है, वह अच्छा है। इसमें संदेह नहीं कि औरों के दुःख से दुःखी होना सज्जनता का चिह्न है; पर कोई आवश्यकता नहीं कि ऐसी दशा में भी हम क्रोध के जाल में फँसें। क्रोध किए बिना ही हम औरों के दुःख निवारण कर सकते हैं और अत्याचार रोक सकते तथा उसका बदला ले सकते हैं। आईन उन लोगों को दंड दे सकता है जो दूसरों पर अत्याचार करते हैं। पर क्या आईन के संस्थापक अथवा उसके परिचालक अपराधी से कुपित होते हैं ? दंड भविष्य के सुधार के विचार से दिया जाता है। इसलिये उसके लिये वे दंड की व्यवस्था इस कारण से करते हैं कि वह अथवा कोई अन्य मनुष्य किसी को न सतावे और किसी प्रकार का अपराध न करे। पर वे

उस पर क्रुद्ध कदापि नहीं होते। विचारवान् लोग ऐसी दशा में क्रोध से नहीं, वरन् बुद्धि से काम लेते हैं और शांत भाव से विचारते हैं कि अपराधी को कितना दंड देना उचित होगा और किस प्रकार का दंड ठीक होगा। भला क्रोध में शांति और विचार कहाँ ?

क्रोध प्रायः तीन प्रकार का होता है-(१) निर्जीव पदार्थों, जड़ जीवों और निर्बोध बालकों पर; (२) साधारण उपहास करनेवालों पर; और (३) वास्तविक निंदकों, हानिकारकों और अपराधियों पर। हम ऊपर लिख आए हैं कि निर्जीव पदार्थ पर क्रोध करना एक प्रकार का निरा पागलपन है; और यही बात जानवरों तथा बालकों पर क्रोध करने के विषय में भी कही जा सकती है। साधारण उपहास करनेवालों पर क्रोध करने से मनुष्य सचमुच हँसी का काम करता है, यह भी लिखा जा चुका है। अब केवल तीसरे प्रकार के क्रोध पर लिखना रह गया है, जिसका सँभालना ही कठिन काम है।

सब से पहले इस बात का विचार रखना चाहिए कि क्रोध किसी दशा में भी अच्छा नहीं। उससे कभी कोई लाभ संभव नहीं, पर हानियाँ अनेक होती हैं। क्रोध में मनुष्य की विचारशक्ति बिलकुल जाती रहती है; और बिना विचारे जो काम किया जायगा, वह कभी ठीक नहीं उतर सकता। इसलिये जो काम क्रोध की अवस्था में किया जायगा, उसका बिगड़ जाना ही निश्चित समझना चाहिए, वह कभी बन नहीं सकता। आदमी को क्रोध तभी आता है, जब उस

को ऐसा जान पड़ता है कि किसी मनुष्य ने कोई अनुचित काम किया; और उसकी यह इच्छा होती है कि उस अनुचित बात का बदला ले। ऐसी दशा में पाँच प्रश्नों का ठीक ठीक निश्चित होना परमावश्यक है; और हमको जब किसी बात पर क्रोध आवे, तब उचित है कि नीचे लिखे पाँच प्रश्नों पर भली भाँति शांति के साथ विचार कर लेने पर अपराधी से उचित बदला लें; या जैसा निश्चय करें, उसके अनुसार कार्य किया जाय।

(१) उसने वास्तव में वह काम किया या नहीं जिसके सुनने से हमें क्रोध आ सके?

(२) वह काम वास्तव में अनुचित है या नहीं?

(३) यदि है, तो क्या हममें इतनी महानुभावता नहीं है कि हम उसे क्षमा कर दें?

(४) यदि नहीं, तो उस अपराध का किस प्रकार बदला लेना चाहिए।

(५) अपराधी को कैसा और कितना दंड देना चाहिए।

क्रोध की दशा में विचारशक्ति से हाथ धोए हुए कोई मनुष्य इन गूढ़ प्रश्नों को कैसे हल कर सकता है? फल यही होगा कि आँख पर पट्टी बाँधकर क्रोधी मनुष्य जो न कर डाले, थोड़ा है। क्या अनेक बार ऐसा नहीं हो जाता कि एक बात हमें पहले तो अनुचित जँची, पर विचार और अनुसंधान करने पर स्पष्ट विदित हो गया कि हम भूलते थे और वास्तव में वह अनुचित बात हुई ही नहीं; अथवा वह बात वास्तव में अनुचित न थी? पर यदि हम यह सोचते हों कि

इस आदमी ने यह अनुचित बात की, बिना किसी प्रकार को जाँच किए क्रोध से भर जायँ, तो हम कैसे जान सकेंगे कि किसी बात को अनुचित समझ हम उससे भी कोई अधिक अनुचित कर्म नहीं किए डालते हैं ? इसलिये इन पाँचों प्रश्नों के उत्तर देने के लिये हमें बुद्धि से काम लेना चाहिए न कि क्रोध से। ये सभी प्रश्न बड़े गूढ़ हैं और क्रोध की दशा में इन पर कभी ठीक विचार नहीं हो सकता। बड़े शांतभाव से बुद्धि द्वारा ही इन प्रश्नों के उत्तर दिए जा सकते हैं। नहीं तो फल यह होगा कि या तो हम किसी निर्दोष मनुष्य को दोषी मान बैठेंगे, अथवा क्षमा करने योग्य अपराध के बदले में बिना विचारे अपराधी को कोई बड़ी हानि पहुँचा देंगे अथवा उसे बहुत अधिक या अनुचित दंड दे देंगे या ऐसा चूकेंगे कि अपराधी दंड से एकदम बच जायगा और कदाचित उल्टे हम्हीं को हानि पहुँचेगी। इससे ऐसी दशा में क्रोध से काम लेने में हम अपने प्रतिद्वंद्वी के साथ बहुत अधिक अन्याय करेंगे; और संभव है कि स्वयं अपनी ही हानि कर लेंगे।

आपने पढ़ा होगा कि महाभारत के भयकर युद्ध में कर्ण पर्व के दूसरे दिनवाले घोर संग्राम मे वीरशिरोमणि कर्ण ने महाराज युधिष्ठिर के छक्के छुड़ा दिए थे और ऐसे तीर चलाए थे कि जिससे उक्त महाराज मारे पीड़ा के रणभूमि से भाग कर अपने डेरे को चले गए थे। उधर उनका बलवान् अनुज अर्जुन युद्ध-स्थल में दूसरी ओर से आकर सहोदर का यह समाचार सुन मारे स्नेह के उन्हे देखने के लिये डेरे की ओर यह विचारता हुआ चला कि अपने प्रिय ज्येष्ठ बंधु के दर्शन कर

युद्ध-क्षेत्र को लौट कर्ण का बध कर डालूँगा। पर अर्जुन को देखते ही महाराज युधिष्ठिर को ऐसा जान पड़ा कि अर्जुन कर्ण को मार उन्हें श्रवणामृत समाचार सुनाने आया है। बस ऐसा विचार कर धर्मराज लगे अर्जुन की प्रशंसा करने। अर्जुन ने उनसे निवेदन किया—"महाराज! मैं अभी कर्ण को मार नहीं आया हूँ; पर आप के दर्शन कर उसे आज बिना मार डाले न छोड़ूँगा।" इतना कहना था कि धर्मपरायण महाराज युधिष्ठिर को उनकी दुर्बलावस्था के कारण क्रोध ने एक दम ऐसा आ घेरा कि वे बिल्कुल आपे के बाहर हो गए और लगे अर्जुन को टेढ़ी सीधी सुनाने और उसकी निंदा करने! इसका फल यह होता कि यदि श्रीकृष्णचंद्र बड़ी ही बुद्धिमानी से दोनों भाइयों को शांत न कर देते, तो अवश्य ही दोनों के प्राण जाते! पर यदि महाराज युधिष्ठिर ने उस समय कुछ भी बुद्धि और विचारशक्ति से काम लिया होता तो क्रोध की वहाँ पर वे जरा भी आवश्यकता न पाते। इसलिये क्रोध से काम लेना अत्यंत अयोग्य है; क्योंकि ऐसी दशा में बड़े बड़े विचारवान् लोग तक महा अनुचित काम कर बैठते हैं।

धर्मपरायण और ज्ञानी लोग तो ऐसे महानुभाव होते हैं कि वे अपने ऊपर अत्याचार करनेवालों से बदला लेने का कभी विचार ही नहीं करते; पर साधारण लोगों में ऐसी महत्ता नहीं आ सकती। श्रीरामचंद्रजी को कैकयी ने चौदह वर्ष के लिये वनवास करा दिया, पर वे उस पर कुछ भी नाराज़ न हुए और सदैव की भाँति उसे माता ही कहकर

पुकारते रहे। राजर्षि भीष्म पितामह से युधिष्ठिर ने स्वयं उन्हीं के मार डालने का उपाय पूछा, पर वे लेश मात्र भी रुष्ट न हुए। महात्मा समीक के गले में राजा परीक्षित एक मृत सर्प लपेट आए थे, जिस पर ऋषीश्वर के पुत्र शृंगी ऋषि ने राजा को शाप दे दिया। पर जब ये महर्षि समाधि से जागे और इन्होंने सब कथा सुनी, तब अपने पुत्र को उसके क्रोध और लड़कपन के विरुद्ध बहुत शिक्षा दी; लेकिन परीक्षित पर कुछ भी कोप न किया, वरन् उलटे अपने दो शिष्यों को उस राजा के पास यह समाचार देने को भेजा कि जिसमें वह सजग हो जाय। स्वयं विष्णु भगवान् के हृदय पर भृगु ने कुपित हो लात मार दी। उस समय विष्णु भगवान् सो रहे थे और उस आघात से वे जाग पड़े; पर ऐसे बड़े निष्कारण अत्याचार पर भी उन्हें ज़रा सा क्रोध न आया और वे उन्हें कहने लगे—"महाराज, मेरे इस वज्र सदृश हृदय पर लगकर आपके चरणकमलों में बड़ी चोट आ गई होगी।" हज़रत मुहम्मद एक बेर किसी अन्य धर्मावलंबी से युद्ध कर रहे थे। युद्ध में इन्होंने उसे परास्त किया और ये उसके ऊपर चढ़ बैठे। पर उसी समय उस मनुष्य ने मुहम्मद साहब के मुँह पर थूंक दिया। इस पर अपने में क्रोध का आविर्भाव होते देख हज़रत ने तत्काल ही तलवार फेंक दी और उस मनुष्य को छोड़कर ये कहने लगे—"अब तक तो मैं अपने दुश्मन (अर्थात् उस मनुष्य) को जीते हुए था; पर अब मैं ही पराजित हुआ जाता हूँ" अर्थात् अब क्रोध मुझ पर विजयी हुआ जाता है। युरोप के धर्मगुरु महात्मा खीष्ट, जो हमारे ही प्रदेश एशिया के थे, कह गए हैं—"यदि तुम्हारे दाहिने

गाल पर कोई एक तमाचा मारे, तो अपना बायाँ गाल भी उसकी ओर कर दो।' चाहे कोई ऐसी शिक्षाओं को माने या नहीं, पर उनका वर्तमान होना ही बड़ी बात है। स्वयं खीष्ट सूली पर चढ़ा दिए गए, पर उन्हें क्रोध न आया। निदान यहाँ तो सैकड़ों ऐसे ऐसे उदाहरण हैं, परंतु अन्य देशों में भी ऐसे मनुष्य हो गए हैं। सुकरात को विष का प्याला पीने को दिया गया, पर उसने किसी पर क्रोध न कर उसे चुपचाप पी लिया। केटो के मुँह पर एक मनुष्य तमाचा मार बैठा, पर केटो ने इस पर कुछ ध्यान ही न दिया मानो कुछ हुआ हो नहीं, जिसे देख लोग चकित हो गए। अस्तु।

परंतु सभी कोई इन सिद्धांतों के अनुयायी नहीं हो सकते हैं। साधारण लोगों से हमारा यह कहना व्यर्थ होगा कि तुम किसी अत्याचार का भी बदला न लो। पर जैसा कि ऊपर लिखा जा चुका है, 'बदला लेने के पहले ऊपर लिखे पाँचों प्रश्नों पर शांति से ध्यान देने की बहुत बड़ी आवश्यकता है। क्रोध की अवस्था में उन टेढ़े प्रश्नों का हल करना असंभव है; और इसी कारण ऐसी दशा में क्रोध को एक किनारे रख बुद्धि और विचारशक्ति से ही काम लेना चाहिए।

अब हम इन सब प्रश्नों पर अलग अलग विचार करेंगे और देखेंगे कि इन पर ध्यान देना आवश्यक है या नहीं।

(१) क्रोध दो अवसरों पर आता है। एक तो जब हम अन्य मनुष्यों द्वारा किसी अनुचित बात का होना सुनते हैं; और दूसरे जब कोई अनुचित बात हमारे सामने होती है।

मान लीजिए कि शिवराम ने हमसे बतलाया कि रामप्रसाद हमको गालियाँ देता था। अब हम यदि ऐसा सुनते ही क्रोधांध हो रामप्रसाद को गालियाँ देने लगें अथवा उसे मारने दौड़ें या अन्य प्रकार से उससे बदला लेने को उद्यत हो जायँ, तो बड़े अनर्थ की बात है। क्या ऐसा संभव नहीं कि शिव-राम रामप्रसाद से रंज रखता हो और व्यर्थ ही उसने हमको उससे लडा देना चाहा हो? अथवा उसने यह दिखलाने को कि वह हमारा बड़ा शुभचिंतक है, ऐसी कथा रच ली हो? अथवा उस छोटी सी घटना को वह 'राई का पर्वत बनाकर कहता हो अथवा उसको आप ही भ्रम हो गया हो? इन सब बातों के जाँचने की वहुत बड़ी आवश्यकता है। नहीं तो एक निरपराध मनुष्य को अपराधी समझकर हम स्वयं बहुत बड़े अपराधी वन जा सकते हैं। दूसरी दशा में मान लीजिए कि रामप्रसाद ने हमारे देखते हमारे लड़के को एक तमाचा मार दिया। इस बार उसमें संदेह नहीं कि रामप्रसाद ने वह काम किया; पर अगली चार बातों का विचार करना इस दशा में भी परमावश्यक है। इस पहले प्रश्न पर तभी विचार करना होता है, जब हम किसी के अपराध का हाल किसी दूसरे मनुष्य द्वारा सुनें।

(२) अब इस बात के विचारने का समय आया कि जिस काम को हम अनुचित समझते हैं, वह वास्तव में वैसा है या नहीं। मान लीजिए कि रामप्रसाद ने आपके लड़के को एक तमाचा मार दिया है। पर आप बिना विचारे क्यों मान लें कि उसने अवश्य ही बुरा काम किया? क्या यह

संभव नहीं कि उसने लड़के को बुराई करते देख भलाई के विचार से ही ऐसा किया हो? महिलाओं को इस प्रश्न पर बहुत विचार करना चाहिए; क्योंकि अनेक बार वे अपने कुटुंबियों पर अपने बच्चों को दो एक तमाचे लगा देने के कारण बहुत नाराज़ हो जाया करती हैं। उन्हें बिना किसी सबल कारण के यह कदापि न मान बैठना चाहिए कि उनके जेठ, देवर अथवा सास ने द्रोह के कारण उनके लड़कों को मारा। ऐसे स्वजन लड़कों की जब कभी ताड़ना करेंगे, तो जाँच करने से प्रायः सदा ही यह जाना जायगा कि उन्होंने उस लड़के के ही हित के लिये उसकी किसी शरारत पर उसे मारा है। फिर क्या यह नहीं हो सकता कि लड़के ने पहले किसी को मारा हो अथवा उसने कोई और शैतानी की हो, जिसके बदले में उसने भी लड़के को एक तमाचा लगा दिया हो? क्या यह संभव नहीं कि किसी भूल के कारण रामप्रसाद ने लडके को दो तमाचे मार दिए हों? तब तो वह मार ऐसी ही हुई कि जैसे लड़का किसी दीवार से टकरा गया हो अथवा चबूतरे से गिर पड़ा हो। निदान बिना इन बातों की ध्यान-पूर्वक जाँच किए हुए यदि आप रामप्रसाद से बदला लेने को प्रस्तुत हो जायँ, तो आपको लोग अवश्य ही महाक्रोधी और अविवेकी समझेंगे।

(३) यह जान लेने पर कि रामप्रसाद ने आपके लड़के को मारा और उसका यह काम अनुचित था, आपको विचारना चाहिए कि क्या हममें इतनी उदारता और महानुभावता नहीं है कि हम उसके इस अपराध को क्षमा कर दें? तमाचा

लग जाने से कुछ लड़के के प्राण नहीं निकल गए। सकड़ों बार स्वयं आप ही उसे कई तमाचे लगा देते होंगे। यदि रामप्रसाद ने एक तमाचा लगा दिया, तो कौन सी बुरी बात हो गई? सब बातें विचार कर यदि आप रामप्रसाद के अपराध को क्षमा कर सकें, तो आपकी बड़ाई है; और रामप्रसाद अपने काम पर आप ही लज्जित होगा। यदि सब बातें शांति-पूर्वक (क्रोध की दशा में नहीं) विचारने पर आप यही निश्चय करें कि रामप्रसाद का अपराध क्षमा कर देने में आप असमर्थ हैं, तो अवश्य उचित बदला लीजिए। हम यह आशा नहीं करते कि साधारण मनुष्य श्रीरामचंद्र अथवा राजर्षि भीष्म पितामह अथवा अन्य महानुभावों के बराबर हो जायँगे। पर यह तो विचार लीजिए कि किसी अपराध विशेष को आप कभी क्षमा कर सकते हैं या नहीं। स्मरण रखना चाहिए कि क्षमा करने अथवा बदला लेने का विचार करने का समय तभी आवेगा, जब आप उपर्युक्त प्रथम दो प्रश्नों पर भली भाँति विचार करके यह निश्चय कर चुके हों कि जिसको आप अपराधी समझते है, वह वास्तव में अपराधी अवश्य है।

(४) अब यह विचारने की आवश्यकता होगी कि रामप्रसाद के अपराध का किस तरह बदला लेना चाहिए? क्या आपको उचित है कि उसे गालियाँ देने लगें? ऐसी दशा में लोग आपको क्या कहेंगे? क्या वे आपको एक असभ्य और वेहूदा आदमी न समझेंगे? क्या भले आदमियों का काम गाली देकर अपनी ज़बान ख़राब करना है? अच्छा, तो क्या आप रामप्रसाद को मारने दौड़ेंगे? इसका परिणाम यह

होगा कि रामप्रसाद और आपकी जूती पैज़ार होगी और लोग आपको भी हँसेंगे। यदि आप रामप्रसाद से अधिक बलवान हुए, तो भी आप के चार तमाचे मारने पर वह दो एक अवश्य लगावेगा; और यदि कहीं वह ज़बरदस्त हुआ, तब तो आप बेतरह पिटेंगे, इस में कोई संदेह नहीं। इसलिये ऐसे कामों में फँसना भले आदमियों का काम नहीं है। उन्हें ऐसी वाहियात बातों से दूर ही भागना चाहिए। तब क्या आप अपने किसी नौकर को भेज कर रामप्रसाद से उस से लठबाजी करावेंगे? पर ऐसा करने से रामप्रसाद को यह विचार कर बड़ा ही दुःख होगा कि आपने उसे अपने नौकरों द्वारा पिटवाया; और संभव है कि उस के यदि कोई नौकर न हुआ, तो वह किसी बदमाश को दो एक रुपया भाड़ा देकर आप को भी पिटवा दे। फिर यदि प्रत्येक मनुष्य इसी भाँति अपना बदला हर बात में लेने लगें, तो देश की शांति में कितनी बड़ी बाधा पड़ जायगी! इसलिये उचित यह है कि सब से पहले उलहना देना चाहिए और तब धिक्कार करना उचित है; अर्थात् स्वयं आप रामप्रसाद को धिक्कारें तथा औरों से उसे धिक्कार दिलावें अथवा बिरादरी द्वारा दंड दिलावे, किंवा अंतिम दशा में उस पर आईन के अनुसार अभियोग चलावें और राजा द्वारा उस का उचित दंड करावें। सारांश यह कि भली भाँति सोच विचार कर आप जिस रीति से चाहें, बदला लें; पर क्रोध के वशीभूत हो सहसा कोई बात न कर बैठें।

(५) अब यह विचारना शेष रह गया कि अपराधी को

कैसा और कितना दंड देना चाहिए। इस संबंध में आप को यह विचारने की आवश्यकता है कि क्या रामप्रसाद ने हमारे लड़के को एक तमाचा मार कर इतना भारी अपराध किया कि हम उस पर सरकारी अभियोग ही चला दें ? क्या कोई अन्य हलका दंड उसे नहीं दिया जा सकता ? यदि रामप्रसाद आप के ही अधिकार में हो, तो क्या यह काफ़ी न होगा कि खूब सोच विचार कर आप ही उसको कुछ दंड दे दें ? क्रोध की दशा में यह कदापि ठीक तौर पर निर्णय नहीं किया जा सकता कि किस अपराध के लिये क्या दंड उचित है।

ऊपर लिखे इन पाँचों अथवा कम से कम तीसरे और चौथे प्रश्नों पर पूर्ण रूप से विचार किए बिना यदि किसी बात को अनुचित समझ आँखों पर क्रोध की पट्टी बाँध, जिसे अपराधी मान लिया हो, उससे आप बदला लेने दौड़िए, तो कोई भी विचारवान् मनुष्य आपको समझदार और गंभीर न मानेगा, वरन् आप एक अविचारी, अप्रतिष्ठित और क्रोधांध आदमी कहलावेंगे। यदि कहिए कि प्रायः सभी मनुष्य क्रोध करते हैं, तो हम्हीं बुरे क्यों कहलावेंगे, तो इसका उत्तर यह है कि यदि बहुत से आदमी अपनी अपनी नाक कटा डालें, तो नाक काटना कोई उत्तम कार्य्य न मान लिया जायगा। जितने मनुष्य क्रोध से काम लेते है, बुद्धिमानों के निकट वे सभी बुरे और पशुवत् हैं। मनुष्य और पशु में विशेष अंतर यही है कि पशुओं मे प्रायः विचारशक्ति नहीं होती; और यदि होती भी है, तो बहुत कम। पर मनुष्य में वह पूर्ण रूप से पाई जाती है। इसलिये यदि कोई मनुष्य

बुद्धि और विचारशक्ति को एक किनारे रख क्रोध तथा मन के ऐसे ही दूसरे भावों से काम ले, तो उसे पशु नहीं तो और क्या कहना चाहिए? इस बात के सिद्ध करने की कोई आवश्यकता नहीं है कि क्रोध की अवस्था में बुद्धि ठिकाने नहीं रहती और विचारशक्ति का बड़ा ह्रास हो जाता है; क्योंकि यह अनुभवसिद्ध है और प्रायः प्रत्येक मनुष्य इसे निर्विवाद मानता है।

यदि कहिए कि 'वाह! जब तक हम बैठकर इन प्रश्नों के उत्तर देने लगें, तब तक अपराधी तो न जाने कहाँ चलता बनेगा। किसी ने हमारे सर पर धड़ाका चपत लगा दी, तब क्या हम ऐसे प्रश्नों पर शांतिपूर्वक बैठकर विचार करेंगे!" तो इसका उत्तर यह है कि एक तो ऐसी दशा कदाचित् ही उपस्थित होती हो; नहीं तो बिना आप के पहले ही से कुछ अपराध किए शायद कोई भी ऐसा पागल न होगा कि ऐसे वृथा ही तमाचा लगा दे। और दूसरे यह कि यदि ऐसी असंभव बात कभी संभव भी हो जाय, तो उस दशा में भी विचारशक्ति ही से काम लेना चाहिए। यदि अपराधी चला जायगा, तो और भी अच्छा है। विचारानंतर आप उसे उचित रीति पर बिरादरी अथवा सरकार द्वारा दंड दिलवा सकते हैं। परंतु एक बार हम अवश्य पूछेंगे कि सच्चे चित्त से आप ही कहिए कि आपने कै हज़ार दफ़ा क्रोध किया है और उनमे से कितने अवसरों पर आपके क्रोध का कारण यह हुआ कि आपको बिना किसी कारण के कोई मार बैठा हो? कदाचित् ऐसा एक भी अवसर ध्यान में न

आवेगा। तब क्या इस प्रकार के तर्क कुतर्क मात्र न माने जायँगे ?

कोई कोई लोग कहने लगेंगे कि रामप्रसाद का लड़के को चपत मार देनेवाला उदाहरण सभी घटनाओं में घटित नहीं होता। अनेक बार ऐसे मौक़े उपस्थित हो जाते हैं कि उपर्युक्त पाँचों प्रश्नों पर जो उक्त उदाहरणों के संबंध में कहे गए हैं, विचारने की आवश्यकता नहीं होती। उत्तर में निवेदन है कि इस बात के कुछ अंशों में सत्य होते हुए भी यह पूर्णतया ठीक नहीं है। संभव है कि उन पाँचों प्रश्नों पर अनेक दशाओं में विचार करने की आवश्यकता न हो; पर उनमें से कम से कम चार या तीन प्रश्नों पर सभी ठौर विचार करना समझदार मात्र का काम है। नहीं तो—

"बिना विचारे जो करै सो पाछे पछिताय।
काम बिगारै आपनो जग में होत हँसाय॥"

वाली कहावत मानों उसी के लिये बनी हुई प्रतीत होगी। भला आप कोई भी ऐसी क्रोधजनक बात बतलाइए कि जिसमें उपर्युक्त प्रश्न (२), (३) और (४) पर विचार करना व्यर्थ हो। इसलिये चाहे किसी ने कितना ही बड़ा अपराध क्यों न किया हो, उससे बदला लेने के लिये क्रोध से काम लेना मूर्खता की पराकाष्ठा समझनी चाहिए। बुद्धिमानों को सभी स्थलों पर और सभी दशाओं में बुद्धि और विचारशक्ति पर ही चलना उचित है।

प्रसिद्ध यूनानी दार्शनिक अरस्तू का मत है कि क्रोध कभी कभी अच्छा होता है, जैसे युद्ध में अथवा भयानक

जीवों के आक्रमण बचाने में। इसलिये उसे समूल उखाड़ डालना भी ठीक नहीं है। परंतु यह बात आवश्यक है कि उसे बुद्धि के आधीन रक्खा जाय। इस मत का सेनेका और अन्य अनेक दार्शनिक खंडन करते हैं; और वास्तव में यह है भी महा अशुद्ध। जो काम क्रोधवश किया जायगा, उसके उनुचित होने की बहुत बड़ी संभावना है। क्रोध यह क्या जाने कि कोई बात कहाँ तक उचित और कहाँ तक अनुचित है? युद्ध को ही लीजिए। जो मनुष्य वास्तव में वीर प्रकृति का है उसे युद्ध में क्रोध कभी आता ही नहीं। आपने पुस्तकों में पढ़ा होगा कि जब एक छोटे और एक बड़े का युद्ध आन पड़ा है, तब सदा छोटे ने क्रोध और बड़े ने शांत भाव का अवलंबन किया है। यदि जापानी लोगों ने पिछले मंचूरियावाले महासमर में क्रोध से काम लिया होता, तो उन्होंने उस रावण से प्रतिभाशाली रूस को कैसे जीता होता?

क्या रूस वही नहीं है जो बड़े बड़े गर्वपूर्ण कटु वाक्य जापानियों के विषय में प्रयोग करता था? क्या वह जापानियों को युद्धारंभ में खुल्लमखुल्ला 'बंदर' इत्यादि उपाधियों से विभूषित नहीं करता था? पर जापानियों की गंभीरता को देखिए कि उन्होंने कभी अपने मुँह से कोई अपमानसूचक शब्द रूसियों की गालियाँ सुनकर भी नहीं निकाला और कभी क्रोध को अपने पास न फटकने दिया। उन्होंने जो बात की, बुद्धि और विचार की प्रेरणा से की; और ईश्वर ने उन्हें वह दिन दिखाया कि आज सारा संसार उनके यश की ध्वनि से गूँज रहा है। अहा! क्रोधरहित होकर विचार की राह

पर चलने की क्या ही विशद महिमा है। भला यदि एडमिरल टोगो और मार्शल ओयामा क्रोधांध हो जाया करते, तो क्या आज दिन जापान का सर्वनाश न हो गया होता? पर नहीं। जनरल नोगी को अपने दोनों प्रियतम पुत्रों के युद्ध में मारे जाने पर भी क्रोध न आया और वह सदा ही की भाँति गंभीर भाव से विचार विचार कर कार्य्य करता गया, जिससे पोर्ट आर्थर के जगत् प्रख्यात कोट को, जिसे रूसियों ने एक दम अटूट मान रक्खा था, उस दुर्धर्ष वीर शिरोमणि ने तोड़ ही तो दिया! अस्तु। तात्पर्य्य यह कि युद्ध में भी क्रोध से काम लेने की किंचित् मात्र भी आवश्यकता नहीं और बुद्धि तथा विचारशक्ति को क्रोध से कुछ भी सहायता नहीं मिल सकती, वरन् उसके कारण वहाँ भी हानि ही होती है।

भयानक जीवों के आक्रमण से बचने के लिये भी क्रोध की आवश्यकता नहीं है; वरन् संभव है कि उलटे क्रोध की अवस्था में आप कदाचित् आत्मरक्षण में बिलकुल असमर्थ हो जायं। इसलिये क्रोध किसी दशा में भी अच्छा नहीं और उसे समूल नाश कर देना ही उचित है। यदि कोई मनुष्य किसी के पिता अथवा पुत्र या भाई तक का वध कर डाले, तो अवश्य ही उस व्यक्ति को अपराधी से बदला लेना चाहिए। पर ऐसी विकट दशाओं में भी क्रोध के वशीभूत होने की कोई आवश्यकता नहीं। यहाँ पर भी बुद्धि और विचारशक्ति ही के व्यवसाय पर निर्भर रहना सर्वथा उचित है। ऐसा न करने से संभव है कि आप ऐसा चूकें कि अपराधी दंड से एक दम बच जाय।

प्रायः देखा गया है कि क्रोध के वश होकर लोग जिनसे नाराज होते हैं, उनके नौकरों को हानि पहुँचा देते हैं; जैसे "धोबी से न जीत गदहे के कान उखाड़ना"। यह बड़ी ही कायरता की बात है।

यदि यह कहिए कि सत्पुरुषों को जैसे उत्तम बातों पर आनंद आता है, वैसे ही बुरे कामों पर उन्हें क्रोध भी आना चाहिए, तो मानो आप ऐसा चाहेंगे कि महात्माओं में महानुभावता और नीचता दोनों ही रहनी चाहिएँ। चाहे आपके संबंध में कोई अनुचित बात हो, चाहे दूसरे के विषय में, पर आप को दोनों ही अवस्थाओं में क्रोध से दूर भागना चाहिए। प्रायः देखा गया है कि लोग क्रोध के वेग में अनुचित काम कर डालते हैं; पर पीछे विचारने पर वे पछताते हैं। परंतु यदि कोई मनुष्य भली भाँति सोच विचार कर कोई काम करेगा, तो पीछे पछताने का उसे कभी अवसर प्राप्त न होगा।

जो काम क्रोध में किया जाता है, उसका कुछ भी ठिकाना नहीं। वह तो मानो उसके कर्ता ने आँधी के बवंडर में पड़ कर बिवश उड़ते हुए किया। प्रायः लोगों का ऐसा विचार है कि जो लोग बड़े ही सच्चे दिल के होते हैं, उन्हें क्रोध शीघ्र आ जाता है; यद्यपि यह भी कहा जाता है कि उसी भाँति ऐसे लोगों की क्रोधशांति भी शीघ्र ही हो जाती है। जो हो, पर यदि ऐसा हो तो उनकी अच्छाई में यह बहुत बड़ा बट्टा है। यह सभी जानते हैं कि क्रोधी लोग कभी सुखी नहीं रहते। सो मानो वे अच्छे आदमी भी समय पर दुखी

होना अच्छा समझते हैं। एक क्रोध ऐसा है कि वह इधर आया और उधर गया; पर दूसरे प्रकार का क्रोध चिरस्थायी होता है। दूसरे प्रकार के क्रोध को तो एक प्रकार की व्याधि समझना चाहिए, जो दुर्बल चित्तवाले मनुष्यों को सताती है। मानो प्रकृति उसके द्वारा उन मनुष्यों से बदला लेती है, जो अपने चित्त को दृढ़ और सिद्धांतप्रिय नहीं बनाते।

कुछ लोग ऐसे होते हैं जो छोटी छोटी भूलों पर अथवा अकारण ही अपने नौकरों या लड़कों पर नाराज़ हो जाते हैं, यहाँ तक कि उन्हें व्यर्थ ही उन बेचारों को ताड़ना करने में भी संकोच नहीं होता। यह बड़ी ही लज्जा की बात है। जो मनुष्य अपने वश में है, उस पर यों अत्याचार करना क्रूरता, कायरता और दुष्टता की पराकाष्ठा है। ऐसे ही लोगों के लड़के दुःख सहन करते करते अंत में उन्हें उत्तर देने लगते और उनसे बराबर लड़ने तक को प्रस्तुत हो जाते है। जहाँ आप देखिए कि पिता पुत्र में बिगाड़ है, वहाँ जाँच से ज्ञात हो जायगा कि प्रति सैकड़े ९९ उदाहरणों में पिता ही का यदि संपूर्ण नही तो अधिक दोष अवश्य है। जैसे कोहरे में सभी पदार्थ बड़े देख पड़ते है, उसी प्रकार क्रोधावस्था में थोड़े थोड़े दोष पहाड़ के समान ज्ञात होते हैं। इसलिये क्रोध में बालकों को झिड़कने अथवा मार बैठने से लाभ के स्थान पर हानि ही होती है। बालक बालिकाओं को यदि उनके अपराध करने पर डाँटा न जाय, अथवा उचित अवसरों पर यदि उनकी ताड़ना न की जाय, तो उनके बिगड़ जाने में संदेह नहीं। इससे उन्हें बुरे कामों पर अवश्य यथोचित दंड

देना चाहिए, परंतु क्रोधवस्था में कदापि नहीं। क्रोध उतर जाने पर उनके अपराध के अनुसार उन्हें दंड देना चाहिए। बहुत लोग ऐसे अदृढ़ और ओछे मन के होते हैं कि या तो वे क्रोध की दशा में लड़कों के हाथ पैर ही तोड़ देंगे, नहीं तो क्रोध उतर जाने पर उनसे लेश मात्र भी ताड़ना करते न बनेगी। ऐसा न करने से वे लोग प्रत्यक्ष सिद्ध करते हैं कि वे किसी स्थिर सिद्धांत पर न चल क्षणभंगुर मनोवृत्तियों के ही वेग में पड़ कर कोई काम कर सकते हैं। भला ऐसे मनुष्य लड़कों को कब सुधार सकेंगे ! इस पर उन्हें स्वयं ही विचार करना चाहिए।

अब रही सेवकों की बात, सो उन्हें ताड़ना करने का कभी ध्यान ही न करना चाहिए। यदि आप उनसे बिल्कुल ही असतुष्ट हों, तो उन्हें अलग कर देना उचित है। छोटे छोटे अपराधों पर उन्हें कभी कभी डांटने की भी आवश्यकता पड़ती ही है। ऐसी दशा में क्रोध दूर हो जाने के पश्चात् उन्हें झिड़कना चाहिए। परंतु बात बात में डाँटते रहने से कोई लाभ नहीं, वरन् इससे उल्टे यह प्रकट होगा कि आप एक अदृढ़ और छिछोरे मनुष्य हैं और सेवक बेहया होकर आपको और भी कष्ट देने लगेंगे। प्रसिद्ध यूनानी दार्शनिक सुकरात को एक बार एक गुलाम पर बड़ा क्रोध आया। पर उसने न उसे डाँटा और न मारा, केवल यही कहकर अपनी मनस्तुष्टि कर ली—"यदि मुझे क्रोध न आ गया होता, तो मैं तुझे अवश्य ठोंकता।" अन्य लोग जिस क्रोध के कारण औरों को मार बैठते हैं, उसी के हेतु सुकरात ने गुलाम को

मारने की कौन कहे, उसे डाँटना तक उचित न समझा! महानुभावता यही है।

अंत को आप पूछेंगे कि अच्छा मान लिया कि क्रोध को एक किनारे रख सभी दशाओं में बुद्धि और विचारशक्ति से ही काम लेना चाहिए, पर यह तो कहिए कि क्रोध का वेग कैसे रोका जाय? उसे कोई बुलाने थोड़े ही जाता है! वह तो आपही आप उमड़ पड़ता है। इसके उत्तर में हम कहेंगे कि उच्चतम श्रेणी के, विज्ञानी और सिद्धांती मनुष्यों को यह विचार कर क्रोध न करना चाहिए कि वह एक ऐसी महा निषिद्ध और उन्मादरूपी मनोवृत्ति है कि जिस से हानियाँ अनेक होतीं और हो सकती हैं, पर लाभ एक भी नहीं। परंतु साधारण मनुष्यों के लिये क्रोध को रोकनेवाले निम्नलिखित उपाय और विचार ध्यान देने तथा मनन करने योग्य है—

(१) प्रारंभ से ही खुशामदी लोगों से दूर रहना चाहिए और अपने चित्त को दुर्बल और स्वेच्छाचारी न बनाना उचित है। ऐसा करने से यदि कुछ भी बात चित्त के प्रतिकूल हुई कि क्रोध का अविर्भाव हो जाता है। यहाँ तक देखा गया है कि कुछ लोग अपने सेवकों पर इतनी सी बात पर क्रोधांध हो जाते है कि पानी में बरफ़ ठीक न पड़ी, चद्दर बिछाने में दो एक सिकुड़न रह गई, उसने खड़ाऊँ बिल्कुल सीधी न रख कुछ टेढ़ी रख दी, अथवा वह बाज़ार से मलाई की बरफ न ला सका, यद्यपि चाहे उस दिन ऐसी बरफ़ हाट में आई हो न हो! हम यह नहीं कहते कि लापरवाही से

काम करने के लिये नौकर को कभी न डाँटा जाय। पर क्रोध से प्रज्वलित हो जाने की इस में क्या आवश्यकता है? ऐसे ही यदि कोई मित्र सच्चे चित्त से आपकी कोई त्रुटि आप पर उचित रीति से प्रकाशित करे, तो आपको उसे धन्यवाद देना चाहिए और उसकी समालोचना पर कदापि रुष्ट न होना चाहिए। क्रोधजनक दशाओं में शांतचित्त रहने का अभ्यास बढ़ाते बढ़ाते ऐसा समय आ जायगा कि आपको जल्दी क्रोध आवेगा ही नहीं।

(२) यदि क्रोध आने लगे तो उसको प्रारंभ ही में दबाने का उद्योग करना उचित है; क्योंकि बढ़ जाने पर आप उसके स्वामी नहीं रह जाते, वरन् वह उलटा आप पर अधिकारी बन बैठता है। सुकरात को जब क्रोध आता, तब वह अपनी वाणी को बंद कर देता, मंद मंद मुसकराने लगता और आँख को चढ़ने न देता। इस भाँति उसका क्रोध कभी किसी पर प्रकट ही न हुआ।

(३) यदि औरों को क्रोधावस्था में दाँत पीसते, अश्लील शब्द मुँह से निकालते, व्यर्थ शपथें खाते एवं अन्य अनेक निंद्य व्यापार करते देखिए, तो आप को सोचना चाहिए कि क्रोध की दशा में आपकी भी वही नीच गति होती होगी! यह कैसी घृणित बात है!! लोग इसे किस दृष्टि से देख रहे हैं!!! ऐसे ऐसे विचार समय समय पर करने से आप अपने को क्रोध में फँसने से रोक सकेंगे।

(४) ठंढे पानी से मुँह धो डालने से क्रोध शांत होता है। इसलिये जब कभी आप को क्रोध आने लगे, वहीं उसे

रोकने के अन्य उपाय करने के अतिरिक्त ठंढे पानी से मुँह धो डालिए।

(५) शीशे में भी मुँह देखने से लोगों का क्रोध जाता रहता है; क्योंकि उन्हें अपना ही बिगड़ा हुआ मुँह देखने से लज्जा प्राप्त होती है।

(६) क्रोध की सब से बडी औषधि विलंब है। यदि आप क्रोध की अवस्था में कोई पत्र लिखिए, तो उसे जितनी देर तक हो सके, अपने ही पास रख छोड़िए। दो एक दिन पीछे उसे पढ़कर आप स्वयं ही लज्जित हूजिएगा कि हमने यह क्या ऊट पटाँग लिख डाला था? किसी पर क्रोध आवे तो उसी समय उस से बदला लेने और उसे दंडित करने का विचार तक न कीजिए। यह कार्य्य उस समय तक के लिये उठा रखिए, जब तक क्रोध दूर न हो जाय। तब आप को थोड़ा विचार करने से ज्ञात हो जायगा कि उचित बात क्या है।

(७) चुगली खानेवालों को कभी मुँह न लगाइए। यदि कोई मनुष्य आप से कहे कि रामप्रसाद कहता था कि आप बड़े दुष्ट प्रकृति के और लोभी हैं, तो इसका सब से अच्छा उत्तर यह होगा—"तो रामप्रसाद ने इस में बेजा क्या कहा? अवश्य ही उन्होने हमें पूरे तौर पर जान लिया हैं; क्योंकि हम वास्तव में दुष्ट प्रकृति के और लोभी है।" यदि वह मनुष्य कहने लगे—"आप ऐसा क्यों कहते है? आप तो एक बड़े ही साधु प्रकृति के और निर्लोभी पुरुष हैं", तो उत्तर में नम्रतापूर्वक कह दीजिए—'आप हमारे शुभचिंतक

हैं, इसी से आप हमें ऐसा समझते हैं। पर वास्तव में जो रामप्रसाद ने कहा, वह बहुत ही ठीक है।" बस, इतना सुन लेने पर कदाचित् वह मनुष्य दूसरी बार आपसे किसी की निंदा न करेगा। अब रही अपनी बात; सो न आप अपने मुँह मियाँ मिट्ठू बनने से कुछ लाभ प्राप्त कर सकते हैं और न अपने को छोटा और सदोष कहने से आपकी कुछ हानि ही संभव है; उल्टे लोग आपकी प्रशंसा ही करेंगे। चुगली खाने-वाले लोगों की बातों पर ध्यान देने से आपका कोई लाभ नहीं हो सकता। उनकी बातें सैंकड़े में ९९ तो प्रायः मिथ्या ही हुआ करती हैं; और जो बात सत्य भी हो, तो उसे सुन कर और उससे क्रोधांध होने से कुछ मिल न जायगा। बुद्धि-मान् लोग आपकी पीठ पीछे निंदा सुनकर आपको बुरा कभी न मान बैठेंगे; और मूर्खों की ओर ध्यान देना ही व्यर्थ है। आपके वास्तविक कर्म जैसे होंगे, वैसे ही आप सत्पुरुषों द्वारा भले या बुरे आदमी माने जायँगे। अतः अपने कामों की ओर ध्यान दीजिए और दूसरों के कहने की कुछ परवाह न कीजिए।

(८) किसी मनुष्य ने आपकी निंदा की, ऐसा सुनकर आपको विचारना चाहिए कि क्या कभी आपने भी उसकी अथवा किसी अन्य पुरुष की इसी भाँति निंदा की है या नहीं? क्या उस मनुष्य ने आपकी जिन बातों की निंदा की है, वे त्रुटियाँ वास्तव में आप में हैं तो नहीं? यदि कहिए कि वे ही अथवा उससे बढ़कर दोष और लोगों में भी रहते हैं, तब आप ही की क्यों निंदा हो? तो इसका उत्तर हम यह

दगे कि एक तो यदि सौ नकटों को देखकर आप अपनी भी नाक काट डालें; तो क्या आपकी लोग निंदा न करेंगे ? और दूसरे यह कि आप कैसे कह सकते हैं कि अन्य दूषित मनुष्यों की निंदा होती ही नहीं ? कदाचित् उनकी आप से भी अधिक निंदा होती होगी। परंतु यदि आपने कभी किसी को उसी प्रकार निंदा न की है और न आप में वे दोष ही वर्तमान हैं, जो आप के निंदक ने आप में ठहराए हैं, तो आपको उस अप्रतिष्ठित निंदक की बात को उपेक्षा की दृष्टि से देखना चाहिए। उस पर ध्यान देना ही व्यर्थ है।

अपनी निंदा सुनकर आप को यह भी ध्यान करना चाहिए कि क्या आपके निंदक ने किसी वास्तविक भ्रम में पड़कर तो आप में वे दोष नहीं समझ लिए, जिन को उसने आप पर आरोपित किया है ?

(६) हमको चाहिए कि समय समय पर अपने दुर्गुणों पर विचार करें और यह बात भली भाँति समझ लें कि हम में कौन कौन दूषण हैं। इसमें संदेह नहीं कि यह एक कठिन काम है; पर—

"अतिशय रगड़ करै जो कोई।
अनल प्रगट चंदन ते होई॥"

इस सच्चे सिद्धांत के अनुसार यदि आप वार वार अपनी त्रुटियों पर शुद्ध हृदय से ध्यान देंगे, तो धीरे धीरे आप अपने सभी अवगुण जान लेंगे। इस से दो बहुत बड़े लाभ होंगे। एक तो आप के दोष धीरे धीरे कम होते जायँगे, और दूसरे

यदि कोई आप की उन दोषों के लिये, जो आप में उपस्थित हैं, निंदा करे तो आप को कदाचित् उस पर क्रोध आवेगा ही नहीं अथवा बहुत कम आवेगा।

(१०) इसी प्रकार हमको समय समय पर क्रोध के दुर्गुणों पर भली भाँति विचार करना चाहिए और इस प्रकार उस पर हार्दिक घृणा उत्पन्न करनी चाहिए। उस में जो जो दोष पाए जाते हैं, उनकी उचित गवेषणा कर हमें सोचना चहिए कि वे कैसे उत्पन्न होते हैं, उन्हें लोग कैसा घृणित समझते हैं, और उन्हें अवश्य दबाना चाहिए। क्रोध के दुर्गुण भली भाँति जानने के लिये उसका अन्य दूषणों के साथ मिलान करने से ज्ञात होगा कि प्रायः इतनी महा निंद्य और घृणित बातें और किसी प्रकार की बुराई में नहीं हैं। इस विचारों से धीरे धीरे आपको क्रोध से बड़ी ही घृणा उत्पन्न हो जायगी।

(११) "यदि छूरी खरबूजे पर गिरे, तो खरबूजा कटे; और यदि खरबूजा छूरी पर गिरे तो भी वही कटे" यह एक साधारण कहावत है। वास्तव में दोनों ही अवस्थाओं में हानि उसी को पहुँचती है जो क्षीण है। यह सभी कोई जानता है कि बुराई की अपेक्षा भलाई बहुत पुष्ट होती है। इससे दूसरी को पहली से किसी प्रकार की वास्तविक हानि नहीं पहुँच सकती। यदि कोई दुष्ट मनुष्य आपसे असद् व्यवहार करे, तो उलटे उसकी हानि होगी; और आप यदि भले हैं, तो सारा संसार उस पर ही थूकेगा।

(१२) बुद्धिमान् और भले मनुष्य ही सिद्धांतों पर चलते

हैं, छिछोरे लोग केवल मनोवृत्तियों के इशारे पर पशुओं की भाँति जो कुछ जी में आ गया, कर बैठते हैं। इसलिये जो कुछ हानि आपको दुष्ट प्रकृति के मनुष्य द्वारा पहुँच जाय, उसे ऐसा ही समझिए कि मानों अचानक किसी बंदर ने काट लिया, अथवा किसी बैल ने सींग मार दिया अथवा आप फिसलकर गिर पड़े हों।

(१३) प्रायः बेसमझी से ही अपमानों की उत्पत्ति होती है। बुद्धिमान् लोग सर्वसाधारण को उसी दृष्टि से देखते हैं, जैसे वैद्य अपने रोगियों को। इसलिये वे उनके बकने पर कुछ ध्यान नहीं देते।

(१४) अपराधी की सभी बातों पर भली भाँति विचार करने से कदाचित् आपको ज्ञात हो जायगा कि उस पर क्रोध करना उचित नहीं। कदाचित् वह एक अनजान लड़का है, तब तो उसे क्षमा ही कर देना चाहिए। यदि हमारे पिता अथवा किसी अन्य बड़े ने कुछ अपराध किया है, तो कहना ही क्या है! उसने हमारे लिये अनेक कष्ट सहे होंगे और वह हमारा सदा हित ही साधन करता रहा होगा। तब क्या हम उसका अपराध भी क्षमा नहीं कर सकते? कदाचित् अपराधिनी एक स्त्री है। तब तो वह अबला ही ठहरी, उस पर क्रोध ही क्या! कदाचित् वह हमसे बहुत न्यून है, तब तो उसे क्षमा करना ही होगा। बदला तो बराबरवालों से लिया जाता है, छोटे से नहीं। "क्षमा बड़न को चाहिए छोटन को उत्पात"। कदाचित् अपराधी ने वह काम विवश

होकर किसी के हुक्म से किया है, तब क्या आप बाँस की लाठी पर क्रोध करेंगे ? कदाचित् आपने अपराधी को कभी पहले दुःख पहुँचाया है। तब बदले में यदि उसने भी आपको कष्ट दिया, तो इसमे कहना ही क्या है ? कदाचित् वह आपसे बड़ा है और आप ही के लिये उसने वह काम किया है, जिसे आप भ्रमवश अपराध समझ रहे हैं। ऐसी दशा में आपको उसका उपकार मानना चाहिए। क्रोध का इसमें जिक्र ही क्या है ? कदाचित् अपराधी कोई जड़ जीव अथवा बिलकुल बेसमझ मनुष्य है। तब उसपर क्रोध कर क्या आप भी अपने को उसी की कक्षा में सम्मिलित कर देंगे ? क्या किसी सत्पुरुष ने आप को हानि पहुँचाई है ? ऐसा कभी जल्दी न मानिए। अवश्य ही उस बात में कुछ झूठ अथवा भूल होगी। क्या किसी बुरे मनुष्य ने वैसा किया है ? तो इसमें आश्चर्य ही क्या है ? पर क्या किसी बुरे आदमी के कारण आप भी वैसे ही बन जाना पसंद करेंगे ? कदाचित् नहीं। ऐसे ऐसे उपायों और विचारों द्वारा, जिन पर हम लोगों को सदा ध्यान देना चाहिए, क्रोध की मात्रा बहुत कुछ घटाई जा सकती है। जिसमे जितना कम क्रोध है, उसमें उतना ही अधिक अंश ईश्वर का माना गया है। इससे यदि आपको चित्त की शांति पाने और संसार में सत्पुरुषों द्वारा प्रशंसित होने की कुछ भी इच्छा हो, तो क्रोध से यथाशक्ति सदा दूर ही भागिए। ऐसा सोचना व्यर्थ है कि "चाहे जो कुछ कहा या सोचा जाय, पर वास्तव में क्रोध का सँभालना असंभव है।" हम मानते हैं कि साधारण मनुष्य सभी ठौर क्रोध नहीं रोक सकते; पर विचारवान् को ऊपर लिखे और अन्य ऐसे ही

उपायों और विचारों द्वारा शुद्ध चित्त से यथाशक्ति क्रोध रोकने का प्रयत्न करना चाहिए। ऐसा करते करते ईश्वर की कृपा से उसमे महानुभावता बढ़ती जायगी और कुछ दिनों में वह इस व्याधि के परे हो सकता है। ईश्वर उसी की सहायता करेगा, जो स्वयं अपनी सहायता करता है। इसलिये आपको क्रोध रोकने का पूरा प्रयत्न अवश्य करना चाहिए।

चौदहवाँ अध्याय

सत्यता

"सत्यान्नास्ति परोधर्मः" की कहावत हमारे यहाँ बहुत काल से प्रचलित है। अब हम यही पुण्यपूर्ण विषय उठाते हैं, जो हमारे आत्मशिक्षण ग्रंथ के सभी विषयों का मुकुट-मणि है। यह अच्छी से अच्छी शिक्षा प्रायः अंत के लिये इस कारण रख छोड़ी गई कि जिस में बिदा होते समय की सम्मति तो प्रिय पाठक स्मरण ही रक्खें।

सत्यता सभी शिक्षाओं, धर्म्मों, आचरणों, वर्णनों आदि से ऊपर है। जो मनुष्य इस का पूर्ण आदर करेगा, वह प्रायः कभी कोई अनुचित कर्म नहीं कर सकेगा। यह विषय देखने में अत्यंत सरल है, किंतु दार्शनिक सिद्धांतों से विचार करने पर ऐसा ज्ञात होता है कि वास्तविक सत्य का ज्ञान हम लोगों को हो ही नहीं सकता। यह ज्ञान केवल ईश्वर को है। जो पदार्थ जैसा है, उसके वैसे ही कथन को सत्य कथन कहते हैं। संसार प्रकृति से उत्पन्न है। यह दो प्रकार की है— जड़ और चेतन। जितने पदार्थ हम देखते हैं, वे सब या तो जड़ है या चैतन्य। यदि प्रत्येक वस्तु के विभाग किए जायँ तो उस का अंत जड़ अथवा चेतन परमाणुओं में मिलता है, अर्थात् परमाणु का विभाग नही हो सकता। इसी को द्रव्य (Matter) का अंतिम रूप कहते हैं। पडितों ने

विचार कर के जाना है कि द्रव्य एक अज्ञेय पदार्थ है। हम उसे केवल गुणों से जानते हैं। गुणों के ज्ञान से इतर द्रव्यों का वास्तविक रूप अथवा उसकी असलियत हमें पूर्णतया अज्ञात है।

हमारे ज्ञान के साधन पंचेंद्रिय हैं। जो सांसारिक अथवा अन्य विषय संबंधी ज्ञान हमें प्राप्त हुआ है, वह पंचेंद्रिय ने ही प्रदान किया है। यह ज्ञान समय समय पर बदला करता है। जिसकी आँखों में काँवरी रोग है, उसे सब कुछ पीला देख पड़ता है। न जाने वस्तुओं का वास्तविक रंग पीला है या वैसा जैसा उसे नीरोग लोग देखते हैं। फिर उसी वस्तु का रंग रात को एक प्रकार का देख पड़ता है, दोपहर को दूसरी ही भाँति का और ज्योति की कमी अथवा आधिक्य के अनुसार अन्य समयों में किसी और ही भाँति का। जब हमारी ही आँखों की भिन्न भिन्न अवस्थाओं में वस्तुएँ इतने रंग बदलती हैं तब, चींटी, हाथी, बैल, छिपकली, पक्षी, मछली, सिंह, साँप आदि की आँखों में उनका रंग रूप कैसा जँचता होगा, यह जानने के लिये हमारे पास कोई साधन नहीं है। तब उसका वास्तविक रंग क्या है, इस प्रश्न का उत्तर भी कोई नहीं दे सकता। हम केवल इतना जानते हैं कि पंचेंद्रिययुक्त नीरोग मनुष्यों के नेत्रों को यदि एक विशिष्ट प्रकार की ज्योति सहायतार्थ मिले, तो अमुक पदार्थ का ऐसा रंग देख पड़ेगा। यह रंग उसके वास्तविक रंग से क्या समानता रखता है, सो हम नहीं जान सकते। इसी भाँति स्वाद का हाल है। शर्करा हमें नीरोगावस्था में

मीठी लगती है, किंतु विशिष्ट रोगों की दशा में कडुई। तब नहीं जान पड़ता कि सब जीवों की विवध दशाओं पर पूर्वानुसार विचार करने से उसमें वस्तुतः क्या स्वाद है। अतः वस्तुओं का वास्तविक रूप एवं रस हमें अज्ञात है। यही दशा शब्द, स्पर्श और गंध की है। फिर अपनी पंचेंद्रिय से संसार एवं प्रकृति को हम एक प्रकार का जानते हैं, किंतु नहीं कह सकते कि यदि कोई शरीरी षडेंद्रिय अथवा सप्तेंद्रिययुक्त होता, तो वह इन्हीं सांसारिक पदार्थों को कैसा जानता और हम से नीचे प्रकार के शरीरी आज कैसा जानते हैं? अतः अवश्य यही तार्किक निष्कर्ष निकलता है कि संसार अथवा उसकी कोई वस्तु हमारे लिये पूर्णतया अज्ञेय है। ऐसी दशा में हम वास्तविक सत्य बोलने का दावा किसी प्रकार नहीं कर सकते। सत्य-कथन, सत्य-ज्ञान पर निर्भर है और जब हमारा ज्ञान ही अनिश्चित है, तब सत्य भाषण कैसे संभव है?

यहाँ तक तो सत्य की दार्शनिक विवेचना हुई। अब यह प्रश्न उठता है कि साधारण सत्य भाषण की शक्ति हमें कैसे प्राप्त हो सकती है? मोटे प्रकार से सत्य-कथन के लिये इच्छा, सामर्थ्य और श्रम-शीलता की आवश्यकता है। साधारण लोग सत्य के लिये केवल इच्छा की आवश्यकता समझते हैं; किंतु बिना सामर्थ्य और श्रम के मनुष्य न चाहते हुए भी झूठ बोल जायगा। यदि किसी को ऐसा रोग है जो साधारण दृष्टि से जाना नहीं जा सकता, तो उसके परखने में अप्रवीण पुरुष भारी भूल कर बैठेगा और ऐसी दशा में उसके कथन नितांत अशुद्ध होंगे। स्वयं हमने एक मरणप्राय रोगी को

यही समझा था कि वह थोड़ा सा बीमार है और लोगों से ऐसा ही कथन भी किया; किंतु जब दो दिन के पीछे उसका शरीर ही छूट गया, तब लोगों ने हमसे कहा—"वाह साहब! आप भी खूब बेपर की उड़ाते हैं।" किसी स्थान पर कितने मनुष्य इकट्ठे हैं, इस महा सरल विषय का भी जानना कठिन है और जिसको ऐसा अनुमान करने का अभ्यास नहीं है, वह भारी भूल कर जायगा। एक बार एक न्यायालय में हमारा हलफ़ से बयान हो रहा था। एक वकील के अमुक स्थान में कितने मनुष्य होने का प्रश्न सुनकर हमने यही कहा कि मैं नहीं कह सकता। उन्होंने कहा—"अटकल से कहिए जनाब!" मैंने उत्तर दिया-"तीन सौ से पांच सौ तक हो सकते हैं।" मेरे पीछे जब एक ऐसे भद्र पुरुष का बयान हुआ कि जिसने वहाँ के लोग गिने थे, तो ज्ञात हुआ कि उस काल वहाँ केवल १६५ मनुष्य थे। बिना श्रम के भी मनुष्य वस्तुओं का सच्चा ज्ञान नहीं प्राप्त कर सकता। रस्सी का साँप, एवं विटप का भूत इसी कारण से बनता है। अतः श्रम एवं सामर्थ्य के अभाव में सत्य बोलने की इच्छा रहते हुए भी मनुष्य प्रायः असत्य भाषण कर जाता है।

इन सब बातों के होते हुए भी वास्तविक सत्य का मुख्य आधार इच्छा ही है। सत्य-भाषण की इच्छा रखनेवाले के कथन प्रायः सत्य होते हैं; और यदि दैवात् वे अशुद्ध हों, तब भी कोई उसे असत्य-भाषी नहीं कह सकता। सत्य से बढ़कर बुद्धिमत्ता संसार में नहीं है। सत्यप्रेमी ही सच्चा बुद्धिमान् कहा जायगा। कोई भी असत्यभाषी असली वीर नहीं

हो सकता। सत्य ही कर्तव्य-परायणता का मूल और कादरता का शत्रु है। यदि साधारण लोग अपने हृदय पर हाथ रखकर अपनी सच्ची समालोचना करें, तो अपने में उन्हें इतने दोष देख पड़ेंगे कि धैर्य्य लुप्त हो जायगा। इसी से कहा गया है कि यदि लोगों के दोष उनके मस्तक पर लिखे होते, तो संसार में भौंहों तक टोपी पहनने की रीति प्रचलित होती।

असत्य के अनेकानेक प्रच्छन्न और प्रकाश्य रूप होते हैं; अर्थात् अत्युक्ति, छद्म, परिवर्तन, झूठा वाद, (प्रच्छन्न तथा प्रकाश) मौन इत्यादि। जब आपके न बोलने से कोई ऐसी बात समझे जो असत्य है, तब मौनावलंबन भी असत्य कथन के समान हो जायगा। इसको प्रच्छन्न असत्य भाषण कहेंगे। जान बूझकर ऐसा वचन देना जिसका पालन नहीं हो सकता, पूरा असत्य है। कथन और व्यवहार दोनों प्रकार वादा से हो सकता है। किसी बात का ऐसा परिवर्त्तन कर के वर्णन करना कि जिससे उसका असली रूप गुप्त रहे, एक प्रकार के असत्य भाषण है। छद्म-कथन का भी यही हाल है। अत्युक्ति एक अलंकार होने पर भी दार्शनिक सिद्धांतों से पूरा असत्य कथन है।

कुछ लोग सोचते हैं कि व्यापार चलाने में असत्य बोलना ही पड़ता है। यह बात किसी भी अंश में यथार्थ नहीं है। जो लोग अच्छा सौदा बेचते और खरे दाम लेते हैं, लोग थोड़े ही दिनों में उनके सौदे की उत्तमता समझकर औरों की अपेक्षा उन्हीं की वस्तुएँ मोल लेना श्रेष्ठतर समझने लगते हैं। इसी लिये अंगरेजी दूकानों का सौदा प्रायः

अच्छे दामों पर बिकता है और देशी दूकानदारों की मूर्खता के कारण बाज़ार में उनकी वैसी साख नहीं होती। देशी लोगों में प्रायः यह रुचि देखी जाती है कि जहाँ तक हो सके, सस्ते दामों की वस्तुएँ तैयार हों। उनकी उत्तमता पर वे तादृश विचार कभी नहीं करते; और जिह्वा से सदैव उसके गुणगान में अत्युक्ति की भी टाँग तोड़ देते हैं। फल यह होता है कि उनके अच्छे माल के विषय में भी गाहक को संदेह लगा ही रहता है। सो अंगरेज़ी माल के बराबर अच्छा माल बना लेने पर भी इनको उतना मूल्य नहीं मिलता। यह अधिकतर कार्यकर्ताओं की बेईमानी का फल थोड़े से बेचारे ईमानदार उत्पादकों तक को भोगना पड़ता है। इसी लिये ऊपर कहा गया है कि सत्यता ही असली बुद्धिमत्ता है। जिस काल भारत में देशी शर्करा की माँग हुई, तब अदूरदर्शी हलवाइयों ने विलायती चीनी में गुड़ और मैल मिला उसे देशी खाँड़ बनाया, जिससे थोड़े ही दिनों में गाहकों का उत्साह ठंढ़ा पड़ गया और विदेशी शर्करा की माँग जैसी की तैसी बनी रही। इन सब बातों पर ध्यान देने से प्रकट होता है कि व्यापार में भी सत्यता ही लाभदायिनी होती है।

सत्यता की शिक्षा मनुष्य को बाल वय से ही मिलनी चाहिए। बहुत से लोग ऐसे अदूरदर्शी होते हैं कि अपने बालकों को विनोदार्थ मिथ्या बातें सिखलाते हैं। उनको खेलाने में एक हाथ की वस्तु झट से दूसरे में या इधर उधर कर के कह देते हैं कि वह जादू से उड़ गई। बेचारे बच्चे समझने लगते हैं कि संसार में वस्तुएँ सचमुच गायब हो

सकती हैं। इसी प्रकार उनको रोने से डराने के लिये भूत, गोंगो कनकटा आदि का भय दिलाते हैं, जिससे उनके कोमल हृदयों पर इन निस्सार पदार्थों के अस्तित्व का ज्ञान जम जाता है। ऐसी बातों से उन बालकों के जीवन में जितनी हानि होती है, वह वर्णनातीत है। अल्प वय के सीखे हुए मिथ्या विश्वास जीवन पर्य्यंत लोगों को कठिनता से छोड़ते हैं। इसलिये उचित है कि विनोद इत्यादि अथवा किसी अन्य दशा में बालकों से कोई मिथ्या बात न कही जाय। बालक स्वभावतः बहुत ही अनुकरणशील होता है। इसलिये अपने प्रत्येक आचरण से उसे उच्च शिक्षा देनी उचित है। आचरणों का प्रभाव बालक पर बहुत ही अधिक पड़ता है। सो इस पर सदैव पूरा ध्यान रखना चाहिए। बहुधा देखा गया है कि बालक जब साथ चलने को रोने लगते हैं तो उनके पिता, ज्येष्ठ भ्राता आदि कह देते हैं कि घर जाकर कपड़े पहन आओ। जब तक वे कपड़े पहनकर बाहर आवें, तब तक स्वयं पालक महाशय वहाँ से खिसक देते हैं। इस प्रकार पालक के असत्याचरण से बालक असत्य का बहुत बड़ा पाठ सीखता है। अतः कथन और आचरण दोनों प्रकार से उन्हें उच्च शिक्षा देनी चाहिए। उनको किसी प्रकार यह ज्ञात ही न हो कि झूठ भी बोला जाता है। बालकों में सत्य-प्रियता उत्पन्न करने के कुछ उपाय हम नीचे लिखते हैं।

(१) उनसे किसी भी विषय पर कदापि कोई बात झूठ न बोली जाय और न उन्हें अपने आचरणों द्वारा झूठ सिखाया जाय। बालकों में अनुकरण शक्ति बड़ी प्रबल एवं

नैसर्गिक होती है और उसी के द्वारा वे सब कुछ सीखते हैं। यदि उनसे कभी झूठ न बोला जाय, तो वे अवगुण के इस लकड़दादा को कभी जानें भी नहीं।

(२) उनकी बात पर विश्वास किया जाय, जब तक कि यह ज्ञात न हो जाय कि वे जान बूझकर झूठ बोल रहे हैं। किसी की बात पर विश्वास न करने से उसे मिथ्या भाषण की उत्तेजना होती है।

(३) सत्य बोलने की ओर प्रसंशा द्वारा उनको रुचि बढ़ाई जाय; और झूठ बोलने की निंदा कर उस पर घृणा उत्पन्न कराई जाय।

(४) यदि लड़का कोई बात झूठ बोले तो उसे तत्काल ही रोका जाय; परंतु ऐसे कहकर नहीं कि "झूठा है! भाग झूठा कहीं का!! अरे वाह रे झूठे!!!" ऐसा कहना तो मानो उसे झूठा बोलने पर शाबाशी देना है। उससे यों कहना चाहिए—"अरे! कोई झूठ बोलता है!! यह बड़ी खराब बात है। बदमाश और लुच्चे झूठ बोला करते हैं; पर भला आदमी कहीं ऐसा करता है!!! राम राम! ऐसा अब कभी मत करना" इत्यादि।

(५) यदि ऐसा करने पर भी लड़का झूठ न छोड़े, तो उसे कड़ा दंड देना चाहिए। धोरे से एक चपत लगा देने की अपेक्षा न मारना अच्छा है। जब लड़कों को मारें, तब अच्छी तरह ताड़ना करे, जिससे बार बार इसकी आवश्यकता न रहे और लड़के को मार खाने की लज्जा एवं उसका भय न छूट जाय। ऐसे उपायों से लड़कों को सच्चा बनाया जा सकता

है और वे ही लड़के बड़े होकर सत्यवादी और ईमानदार मनुष्य हो सकते हैं। माताओं को इस ओर विशेष ध्यान देना चाहिए। बूढ़े तोते राम राम नहीं करते। जिसकी नस नस में लड़कपन से ही झूठ बोलना भरा है, जो उमर भर निधड़क मिथ्या भाषण करता रहा है, जो "मौका महल" विचार कर बात करता है, अर्थात् सभी बातों में पहले यही विचारता है कि ऐसे अवसर पर सच बोलने से मतलब निकलेगा या झूठ बोलने से, जिसे झूठ का ध्यान आते ही चित्त में घृणा उत्पन्न नहीं होती, वह बेचारा क्या सत्यवाद करेगा! क्योंकि अभ्यास ही स्वभाव का पिता है। अतःहम लोगों को बालकों को प्रारंभ से ही सत्यवादी और सत्यताप्रेमी बनाने की पूर्ण चेष्टा करनी चाहिए।

महात्मा तुलसीदास जी ने क्या ही ठीक कहा है—

"नहिं असत्य सम पातकपुंजा।
गिरि सम होहिं कि कोटिक गुंजा?"

इस छंद के आशय पर बहुत लोग ध्यान नहीं देते। तुलसीदास जी के मत से जहाँ एक असत्य मात्र पहाड़ के बराबर पातक है, वहाँ अन्य करोड़ों प्रकार के पाप केवल एक एक गुंज, अर्थात् घुंघुची या रत्ती के बराबर हैं। एक विधर्मी महात्मा ने कहा है कि जो कुछ हमारे भीतर जाता है, उससे हम प्रायः उतने अपवित्र नहीं होते, जितना कि जो कुछ भीतर से बाहर आता है. उससे होते हैं। "जो कुछ भीतर जाता है" से तात्पर्य है खाद्य पदार्थों का और "जो कुछ भीतर से बाहर आता है" इससे अभिप्राय है झूठ बोलना,

दगाबाज़ी और अन्य घृणित कर्म करने के विचार। क्योंकि प्रथमतः मनुष्य के चित्त ही में ऐसे कर्म करने के विचार उठते हैं और बाहर आते हैं। अहा! कैसा उत्तम वाक्य है! सुनते हैं कि जहाँ ऊपरी आडंबर बहुत बढ़ जाते हैं, वहाँ वास्तविक धर्म की बातें प्रायः लुप्त सी हो जाती है। हम लोगों के यहाँ ऐसा ही हुआ। खान पान, छुआ छूत, ऊँच नीच इत्यादि के स्वार्थियों ने इतने ढकोसले बढ़ा दिए कि धर्म के मुख्य अंग—सत्यता, निस्स्वार्थता, दया, शूरता, दान, स्वदेशानुरागादि लुप्तप्राय हो गए! हमारे देश के दुर्भाग्य का सब से बड़ा कारण यही है।

विलायत में एक गोष्ठी के लोग होते हैं जो क्रेकर्स (Quakers) कहलाते हैं। वे लोग तो सत्यता की प्रायः अंतिम सीमा तक पहुंच गए हैं। उनकी कुछ बाते पाठकों के विनोदार्थ यहाँ लिखते हैं—

(१) वे साहित्य को एक दम नापसंद करते हैं; क्योंकि उसमें झूठ बहुत होता है। कवियों की सच्ची घटनाएँ वर्णन करने में भी वे नमक मिर्च के काम प्रायः नहीं चलता। पर क्वेकर लोग जहाँ एक अक्षर भी झूठ का आ गया कि चट उससे कोसों भागते हैं। अतः वे लोग बहुत कर के काव्य ग्रंथ कभी देखते ही नहीं।

(२) जैसे हमारे यहाँ लोगों को प्रायः "महाशय" कह कर संबोधन किया जाता है, वैसे अंगरेज़ी में सर (Sir) कहा जाता है। पर यदि ठीक पूछिए तो 'सर' उपाधि के वे ही अधिकारी हैं जो नाइट (Knight) हों। अतः क्वेकर

लोग सर्वसाधारण को कभी "सर" कहकर नहीं संबोधन करते। यदि आप उन्हें "सर" कहें या लिख दें, तो वे आपको तत्काल ही स्मरण दिला देंगे कि वे नाइट (Knight) नहीं हैं और आप उनसे "सर" कहने में झूठ बोले।

(३) वे लोग जब कोई सौदा सुलुफ लेने बाजार जाते हैं, तब दूकानदार से केवल एक बार पूछ लेते हैं कि किसी वस्तु विशेष का जो उन्हें क्रय करनी है, क्या मूल्य है? यदि सौदागर का बतलाया मूल्य उन्हें ठीक जँचा, तो वे उतना दाम देकर सौदा ले लेते अन्यथा "मुझको मूल्य अधिक जान पड़ता है" यही कहकर चल देते हैं; मोल तोल कभी भूलकर भी नहीं करते। यदि दूकानदार उन्हें फिर बुला कर उसी पदार्थ का दाम कुछ घटाकर बतावे, तो वे उसकी बात भी न सुनेंगे। यही कह देंगे कि "तू मुझसे झूठ क्यों बोला"? और फिर यथासाध्य उसकी दूकान पर सौदा लेने कभी न जायँगे। यह जानकर दूकानदार भी उनसे कभी किसी वस्तु का दाम एक पैसा भी बढ़ाकर नहीं कहते।

(४) यदि आप उनसे पूछें कि कोई स्थान विशेष कितनी दूर है और यदि वहाँ के रास्ते पर मील के पत्थर न लगे हों अथवा उन्हें उन महाशय ने गिन न लिया हो, तो वे यही उत्तर देंगे कि "मैं नहीं कह सकता।" अटकल की बात वे लोग कभी कहते ही नहीं, क्योंकि वह "झूठ" हो सकती है। ऐसे ही यदि आप उनसे समय पूछें और उनके पास घड़ी न हो अथवा वह बिलकुल ठीक न हो, तो उत्तर वही होगा जो ऊपर लिखा है। इसी प्रकार यदि कोई तीसरा आदमी आप

से समय पूछे और आप अपनी घड़ी में १० बजने में ३ मिनट बाकी देखकर कह बैठें कि दस बजे हैं, तो यदि वहाँ कोई क्वेकर बैठा हो और उसकी घड़ी ठीक हो, तो वह उसे देखकर कहेगा कि "नहीं! दस बज गए कहना झूठ था। उस समय दस बजने में २ मिनट ३७ सेकंड बाकी थे"।

(५) अंगरेज़ी में यू (You अर्थात् आप) कह कर संबोधन करने की चाल है, पर यह शब्द बहुवचन होने से एक मनुष्य के विषय में प्रयुक्त न होना चाहिए, वरन् इसका एकवचन दाऊ (Thou) अर्थात् "तू" कहना चाहिए। क्वेकर लोग भला कोई अशुद्ध (अर्थात् उनके मतानुसार झूठ) शब्द काहे को बोलने लगे? अतः वे सब को "तू" (Thou) कहकर संबोधन करते हैं और भूलकर भी "आप" (You) नहीं कहते, क्योंकि एक मनुष्य के विषय में ऐसा कहना "झूठ बोलना" है। वे लोग सभ्यता को भी सत्यता के सामने तुच्छ मानते हैं।

यदि सच पूछिए तो सत्यता इसी का नाम है। जब क्वेकर लोग सत्यता का ऐसी ऐसी छोटी बातों में इतना विचार रखते हैं, तो आप समझ सकते हैं कि दगाबाजी के लिये भला वे कभी झूठ बोल सकते हैं! कदापि नहीं!! प्राण जाने पर भी नहीं!!! ऐसे लोग धार्मिक हैं। ऐसे लोग महात्मा हैं, न कि दंभी, मिथ्यावादी और दगाबाज।

क्वेकरों के उपर्युक्त वर्णन करने का हमारा यह अभिप्राय नहीं है कि सब लोगों को इन्हीं के समान समाज में कथन करना और आचरण रखना चाहिए। प्रयोजन केवल

इतना है कि सत्य की खोज में लोग यहाँ तक गए हैं। वास्तव में यदि सत्य की इच्छा रखनेवाले किसी पुरुष के मुख से भ्रमाभाव आदि से कोई असत्य बात भी निकल जाय, तो वह मिथ्याभाषी नहीं कहा जा सकता। शास्त्रों में यहाँ तक कहा गया है कि—

"सत्यं ब्रूयात् प्रियं ब्रूयात् न ब्रूयात् सत्यमप्रियम्।
सत्यं च नानृतं ब्रूयादेषधर्मः सनातनः॥"

अर्थात् प्रत्येक सुधी पुरुष को सत्य कथन करना चाहिए और उसी के साथ प्रियवादी भी होना उचित है। जहाँ तक कोई विशेष आवश्यकता न पड़े, अप्रिय सत्य कथन से बचा रहे। इसी के साथ ऐसा भाषण भी न किया जाय जो साथ ही साथ सत्य और झूठ हो, अर्थात् अर्द्ध सत्य कथन न किया जाय। अर्द्ध सत्य का एक उदाहरण यही है कि जब यह प्रश्न हुआ कि क्या आपने अपने पिता का भारी-निरादर किया है, तब अपने मन में निरादर को हल्का समझकर उत्तर केवल यही दिया जाय कि यह बात बिलकुल झूठ है। अतः शास्त्रकारों ने अनावश्यक अप्रिय सत्य एवं अर्द्ध सत्य को सनातन धर्म के विरुद्ध कहकर पाप माना है।

बहुत लोग कहते हैं कि सत्य कहने से साथ नहीं रहता; और इसके उदाहरणों में उस दुष्ट पुत्र का वाक्य उद्धृत करते हैं जिसने अपनी विधवा माता के थोड़े से शृंगार पर उसके आचरण पर संदेह प्रकट करनेवाला कथन किया था। ऐसे कथन को सुनकर माता के स्वभावतः रुष्ट होने से वे

लोग अपने उपर्युक्त विचार की पुष्टि मानते हैं। यहाँ इसी अनावश्यक अप्रिय सत्य का मामला सिद्ध होता है न कि सत्य से साथ न रहने का। प्रत्येक सत्यवादी का यह कर्तव्य नहीं है कि वह सब का मानभंग करता फिरे। किसी के अयोग्य प्रश्न करने पर भी आप झूठ न बोलकर कह सकते हैं कि मैं ऐसे अनावश्यक प्रश्नों का उत्तर देना नहीं चाहता, अथवा युक्तिपूर्वक उसको बचा सकते हैं। अँग्रेजों से जब किसी से लड़ाई हो पड़ती है और वह उनका नाम अभियोग चलाने को पूछता है, तब प्रायः देखा गया है कि झूठ नाम बतलाकर पिंड छुड़ाने के स्थान पर वे नाम ही नहीं बतलाते, किंतु देर तक बहस कर के जब नाम बतलाते हैं, तब वह सच्चा ही नाम होता है। ऊपर दिखाया जा चुका है कि असत्य मे कितने दुर्गुण भरे है। यदि एक खड़ंत उत्तर से इतने दोष बच सकते है, तो उनके अंगीकरण को कोई आवश्यकता नही है। लोग औरो की दृष्टि मे सज्जन अथवा उदारचेता बनने के इतने उत्सुक रहते हैं कि स्वयं अपनी साक्षी को बिलकुल ही भूल जाते है। जब तक कोई उचित समालोचक अपनी ही दृष्टि में सज्जन अथवा उदारचेता नहीं है, तब तक दूसरों की दृष्टि में ऐसा बनने के लिये यत्नवान् होना उसका कैसा घृणित कर्म है, सो स्पष्ट प्रकट है। फिर भी लोग स्वयं अपनी अपेक्षा औरों पर सज्जनता प्रकट करने के परमोत्सुक देखे गए हैं। यही घृणित लालसा असत्य की जननी और संसार के आधे से अधिक पातकों को उत्पन्न करनेवाली है। प्रत्येक चतुर पुरुष जब स्वयं अपने को अपने आचरणों से संतुष्ट कर सकेगा, तब वह देखेगा कि संसार

अंधा नहीं है और इस दशा के पहले ही से उसे पूज्य मानते लग चुका है। जहाँ कहीं सत्य बोलने से कोई भारी पातक बढ़ता हो, वहाँ किसी प्रकार से अपने धर्म को बचा लेना ही ठीक है। जैसे यदि डाकू लोग किसी के गुप्त धन का भेद अपने से पूछते हों, तो वश होने पर मिथ्या भाषण द्वारा भी अपना पिंड छुड़ाना पातक नहीं है, यद्यपि पूर्ण पुण्य यही कहा जायगा कि ऐसी दशा में भी मनुष्य प्राण तक न्योछावर कर के सत्य व्रत का पालन करे। परिहास में किसी साधारण असत्य कथन को शास्त्रों ने पातक नहीं माना है, और वास्तव में ऐसा माना भी नहीं जाता है। किंतु पूरे सत्यव्रती को असत्य भाषणवाले परिहासों में संलग्न ही न होना चाहिए। जिन कथनों का अभिप्राय असत्य हो और केवल ध्वनि व्यंग्यों द्वारा ही सत्यार्थ निकले, वे असत्य नहीं कहे जा सकते; क्योंकि उनका वास्तविक अर्थ असत्ययुक्त नहीं है।

सभी स्थानों पर सत्य व्रत का पालन बड़ा कठिन धर्म है, किंतु वस्तुतः महानुभाव पुरुष वही माना जायगा, जो ऐसे समय में भी "अश्वत्थामा हतो नरो वा कुंजरो" द्वारा अपने धार्मिक स्वभाव को झूठा बोध न होने दे। महात्मा सत्यकाम जाबाल ने जिस काल अपने गुरु से अपना जारज होना तक स्वीकार कर लिया, किंतु पिता का झूठा नाम बतला कर सत्यव्रत को नहीं भंग किया, उसी समय से उसकी महत्ता कम होने के स्थान पर संसार में और भी जम गई। महात्मा गुरु गोविंदसिंह के सुपुत्रद्वय दिखलाने भर को कलमा पढ़

कर बड़ी सुगमता से अपने प्राण बचा सकते थे; किंतु पूर्ण सत्य का आदर कर के वे सहर्ष स्वर्ग-लोक को पयान कर गए, तथापि जीते जी बल से मत परिवर्त्तन करानेवालों के काले मूखों पर थूकते ही रहे। ऐसे ही ऐसे महत्त्वापूर्ण उदाहरणों से देश का मुख उज्ज्वल होता है। हज़ारों मनुष्य प्लेग से क्या नित्य प्रति गोदड़ों की भाँति नहीं प्राण त्यागते ? फिर उन्हीं दो पुरुषरत्नों के मरने से क्या देश उजाड़ हो गया ? उन्होंने मरकर भी दिखला दिया कि पुरुष किसे कहते हैं। यों तो सारी दुनिया के जिह्वा, कान और मस्तिष्क होते हैं, किंतु—

"कहिबो सुनिबो सोचिबो बीरन को कुछ और।"

पंद्रहवाँ अध्याय

संसार की सारता

हमारे यहाँ प्रायः सभी बातो में इस "असार संसार" का कथन आगे चलता है। बात बात में संसार को तुच्छ, मिथ्या, झूठा, मायामय, धोखे की टट्टी, असार, स्वप्नवत, मृगतृष्णा, पंछी रैन बसेरा, पानी का बुलबुला, बालू की भित्ति इत्यादि विशेषणों से विभूषित अथवा कलुषित करने की ऐसी कुछ रीति सी पड़ गई है कि कभी कभी बिना विचारे भी लोग इस भाँति के कथन कर बैठते हैं। यह एक प्रकार से धार्मिक विषय है और आचार-शास्त्र के ग्रंथ में इसका स्थान पाना ही साधारणतया अनुचित है; किंतु भारतवर्षीय आचार पर इसका प्रभाव इतना पड़ा है कि इसे यहाँ से अलग रखना अनुचित समझ पड़ता है।

सांसारिक असारता के विचारों की उत्पत्ति विशेषतया शंकर स्वामी के अद्वैतवाद से समझी जाती है। अद्वैतवाद का कथन है कि संसार मायामय मात्र है, जो माया ईश्वर के लिये झूठी है किंतु हमारे लिये सच्ची। महात्मा शंकराचार्य्य ने "तत्त्वमसि" का अर्थ कर के ईश्वर और जीव को एक ही माना है और इनमें केवल अविद्या का अंतर बतलाया है। ईश्वर पूर्ण ज्ञानी होने से इस मायामय संसार के वास्तविक मिथ्यात्व एवं अनस्तित्व को जानता है; परंतु जीव अहंकारी एवं

अज्ञानी होने से इस माया को वास्तविक पदार्थ समझता है। अतः प्रकट है कि जीव के लिये यह संसार सच्चा है, क्योंकि जब तक उसे पूर्ण ज्ञान नहीं होता, तभी तक वह संसार में रहता है और माया को सच मानता है। जब वह पूर्ण ज्ञानी हो जाता है, तब अपने स्थूल, सूक्ष्म और बुद्धि शरीरों का हनन कर के अपने वास्तविक अस्तित्व अथवा अनस्तित्व को प्राप्त हो जाता है और संसार में नहीं रहता। अतः शांकर सिद्धांत के अनुसार भी प्रकट है कि संसार यहाँ के निवासियों के लिये पूर्णतया सच्चा है। जिसमें इसे झूठा जानने की पात्रता हो जाती है, उसके रहने योग्य संसार नहीं रहता, अथवा यों कहें कि वह संसार में रहने योग्य नहीं रह जाता। अतः शंकर स्वामी के अनुसार भी यह संसार सभी जीवधारियों के लिये पूर्णतया सच्चा है। संसार के इतर प्रदेशों के अज्ञात निवासी इसे कैसा समझते हैं, सो जानने की हमें कोई आवश्यकता नहीं है। उधर विशिष्टाद्वैतवादियों ने प्रकट रूप से संसार को सत् माना है।

अतः हमारे शास्त्रों में जो इस जगत् को बहुधा सार-हीन माना गया है, उसका प्रयोजन यह है कि हम लोगों को उसमें नितांत लिप्त हो जाना उचित नहीं; और यह समझ कर कि इस दुनिया में हमें सदा नहीं रहना है, बुरे कर्मों से डरना तथा अच्छी बातों में दत्तचित्त होना चाहिए। शास्त्र-कारों का यह प्रयोजन कदापि न था कि हमें पृथ्वी पर अपने कर्त्तव्य से ही पराङ्मुख हो "दुनिया दुरंगी मकारा सराय" कहकर हाथ पैर समेटकर चुपचाप बैठ रहना ठीक है। यदि

ऐसा न होता, तो भगवान श्रीकृष्ण गीता में अर्जुन को कर्म-योग का सिद्धांत क्यों समझाते; और इस बात पर क्यों इतना जोर दिया जाता कि प्रत्येक मनुष्य को अपना कर्तव्य अवश्य पालन करना चाहिए? मनुष्य में स्वार्थ की मात्रा प्रायः बहुत विशेष हुआ करती है, जिसके वश होकर वह उचितानुचित बातों और कामों पर कभी कभी विचार न करके अपना मतलब बनाने में इतना अंधा हो जाता है कि बड़े बड़े घृणित और गर्हित कुकर्म तक कर डालने में भी उसे आगा पीछा नहीं होता। इस भयंकर कुदशा से बचाने के लिये हमारे विज्ञ शास्त्रकारों ने हमें ठौर ठौर पर संसार की असारता दिखलाई है, न कि इसलिये कि पृथ्वी पर लोग कर्त्तव्य-पालन ही न करें।

जब तक हमारे प्रिय भारतवर्ष की दशा अच्छी रही, तब तक इस सिद्धांत का प्रयोग केवल समुचित रीति पर ही किया गया; पर जब दुर्भाग्यवश हम लोगों का अधःपतन प्रारंभ हुआ, तभी कुछ काल के लिये शास्त्रों की इस उत्तम शिक्षा का भी मतलब हम लोग यह समझने लगे कि दुनिया में कुछ है ही नहीं; सो पुरुषार्थ करना व्यर्थ है। इन्हीं विचारों के बढ़ने पर पेट "पापी" कहलाने लगा, यद्यपि वास्तव में कर्मण्यता का यही मूल कारण है; क्योंकि कुछ न कुछ कर के इस "पापी पेट" को नित्य "चांडाल की झोली" के समान भरना ही पड़ता है। यदि पेटदेव न होते, तो "संसार की असारता" के ढकोसले पर कुछ लोग कदाचित् अकर्मण्यता की पराकाष्ठा तक पहुँच जाते। अकर्मण्यता से संतोष की

ऐसी अनुचित वृद्धि हुई कि कुछ लोगों को "चना चबैनी गंग जल" मात्र की आवश्यकता रह गई। उधर पाश्चात्य देशों में काम करने का महत्व ऐसा बढ़ा कि उसे कभी कभी जप, तप तक की उपाधि मिल गई। कार्लाइल ने यहाँ तक स्पष्ट रूप से लिख दिया कि परिश्रम ही पूजन है। हम लोगों की अकर्मण्यता तथा पाश्चात्य जातियों की कार्य्यदक्षता के जो परिणाम हुए हैं, वे किसी आँखवाले से छिपे नहीं हैं; पर जो लोग आँखें रखते हुए भी देखना नहीं चाहते, उन्हें कौन दिखला सकता है ? जब हम सबों की अथवा हममें से अधिकांश लोगों की आँखें खुल जायँगी, उसी दिन भारतवर्ष से "कलि काल" दूर हो जायगा। संसार की असारतावाले विचारों के अनुचित अर्थ से भारत में अकर्मण्यता और संतोष की परम हानिकारिणी वृद्धि हुई, जिससे धीरे धीरे इसका पूर्ण अधःपतन हो गया। गोस्वामी तुलसी दास से ईश्वर के अटल भक्त तक ने कहा है—

"कादर मन कर एक अधारा।
दैव दैव आलसी पुकारा॥"

इसलिये संसार की असारतावाले भेद-विचार बिल्कुल पोच समझने चाहिएँ।

यह संसार कदापि असार या झूठा नहीं है, वरन् बिलकुल सच्चा एवं सारगर्भित है। यह ईश्वर की चमत्कारिणी रचना है और इसे झूठ या मिथ्या कहना एक प्रकार से ईश्वर पर कलंक लगाना है। यदि वह सच्चा है, तो फिर इस की रचना झूठी कैसे हो सकती है ? क्या झूठे ही उसने

इस अद्भुत विश्व को रच डाला है? सूर्य्य, चंद्र, करोड़ों अरबों ग्रह एवं नक्षत्र, गगनमंडल में के असंख्य ज्वलित पिंड जो आकर्षणशक्ति द्वारा एक दूसरे के सहारे निरवलंब यथा-स्थान स्थित हैं, अथवा घूमते हैं और एक दूसरे से टकराने नहीं पाते, इत्यादि हम नित्य देखते हैं। ये सब अनंत चतुराई की सामग्री क्या धोखा मात्र है? जिस हिमालय पहाड़ की सैकड़ों गगनभेदी चोटियाँ संसार में अपना जोड़ नहीं रखतीं और नित्य आकाशस्थित देवगण से कनफुसकियाँ किया करती हैं, क्या वह पर्वत-राज झूठा ही है? क्या हमारी पूज्य, श्रद्धेय तथा उपकारिणी गंगा मैया, यमुना, सरयू आदि सब हैं ही नहीं? क्या हमारे भगवान् वेद, स्मृति, दर्शन शास्त्रादि एक दम धोखे की टट्टी मात्र है? क्या हमारे ऋषि, मुनि, राम, युधिष्ठिर, भीष्म, महाराणा प्रताप आदि सब झूठ मूठ को थे? ऐसा कहना अनर्थ है, एक दम मिथ्या है। वे कभी झूठ मूठ नहीं थे। जो इन्हें झूठ समझे उसकी बुद्धि ही झूठी और थोथी है। फिर भी यदि सारा संसार ही असार और मिथ्या है तो इनके मिथ्या होने में संदेह ही क्या हो सकता है? अतः प्रकट है कि संसार को असार या झूठा कहना अनुचित है।

केवल इतना ही नहीं, वरन् हमारे शास्त्रों में भगवान का ही जो विराट रूप वर्णन किया गया है, उस पर भी इस स्थान पर ध्यान दिला देना कदाचित् अनुचित प्रतीत न हो। इस परमेश्वर या भगवान के विराट रूप का वर्णन करते हुए कहा गया है कि समुद्र ही उसका उदर है, हिमगिरि हेम-

कूट और समेरु मंदर उसकी अस्थियाँ हैं, सर्पगण उसके नख हैं, पवन उसके तन छिद्र हैं, सूर्य चंद्र ही उसके नेत्र हैं, इत्यादि, इत्यादि। अतः स्पष्ट है कि यदि ये सब पदार्थ असार और मिथ्या हैं, तो स्वयं भगवान का विराट रूप ही मिथ्या ठहरेगा। हम सभी लोगों के लिये यह प्रमाण देना उचित अथवा आवश्यक नहीं समझते; पर इतना अवश्य कहेंगे कि हिंदू सनातनधर्मावलंबी महाशयों को संसार को असार कहकर स्वयं भगवान के विराट रूप को मिथ्या बनाना कदापि उचित नहीं।

इसमें संदेह नहीं कि संसार की सभी वस्तुएँ नाशमान हैं; किंतु फिर भी पूर्ण विनास किसी वस्तु का नहीं हो सकता; और द्रव्य एवं शक्ति, रूप भले ही बदला करे, किंतु उसका नाश असंभव है। रूप के विषय में भी देखिए कि अब श्रीरामचंद्र नहीं हैं, श्रीकृष्ण भगवान नहीं हैं, वेदव्यास नहीं हैं, गौतम बुद्ध नहीं हैं, शंकर स्वामी नहीं हैं, विश्वामित्र, पाणिनि और पतंजलि नहीं है, किंतु फिर भी जब तक इनके यशोरूपी शरीर संसार में शेष हैं, तब तक ये बिना शरीर के भी जीवित हैं। अतः यदि हम भी पुरुषार्थ दिखलाकर अपनी जाति और अपने देश का हित करके संसार में अपना नाम अमर कर सकें, तो अमरत्व का पद पा सकते हैं।

बहुतों का विचार है कि एक एक प्राणी के लिये संसार को एक प्रकार से यों असार कह सकते हैं कि उसके नेत्र मुँद जाने के पीछे उसके हिसाब से कुछ नहीं रहा, मानो सर्वनाश हो गया। यह बात बिलकुल ठीक नहीं है। पहले तो

यह बड़ी स्वार्थ-परता की बात है कि हम न रहे, तो संसार ही न रहा। एक साधारण व्यक्ति है ही क्या वस्तु ? संसार के आगे वह एक नितांत तुच्छ जीव है, मानो अणुमात्र भी नहीं है। उसके रहने या न रहने से संसार पर क्या प्रभाव पड़ सकता है ? उसके ऐसे एवं उससे बढ़कर असंख्य जीव एक इसी पृथ्वी पर वर्त्तमान हैं। फिर यह पृथ्वी एक ही ब्रह्मांड का एक बहुत ही छोटा अंश है। ऐसे और इससे बड़े करड़ ब्रह्मांड ईश्वर ने रच रक्खे हैं कि जिन्हें सोचने तक से मनुष्य की छोटी बुद्धि चक्कर खाने लगती है। ईश्वर की सृष्टि में हमारा कितना छोटा पद है, इसे विचारना तक बहुत कठिन है। तब कोई विज्ञ पुरुष ये सब बातें जानकर संसार के आगे आत्मगौरव संबंधी विषयों पर जिह्वा हिलाने तक की हिम्मत कैसे कर सकता है ? यदि हम न भी रहे, पर अपने ठौर लड़के बाले छोड़ गए, तब हमारे हिसाब भी संसार कभी मिथ्या नहीं कहा जा सकता। एक एक प्राणी के लिये चाहे संसार स्थिर न भी देख पड़े, पर जाति के लिये, राष्ट्र के लिये, देश के लिये वह स्थिर ही देख पड़ेगा। यदि रामचंद्र अब नहीं हैं, तो भी उनके वंशज महाराणा उदयपुर तथा लाखों अन्य मनुष्य वर्त्तमान हैं। यदि गौतम बुद्ध का स्थूल शरीर यहाँ अब देखने में नहीं आता, तो भी उनका मत माननेवाले करोड़ों मनुष्य चीन, जापान, बरमा, आसाम आदि में फैले पड़े हैं। यदि विश्वामित्र अब इस लोक में नहीं हैं, तो भी उनके लाखों वंशधर भारतवर्ष ही में प्रस्तुत हैं और गायत्री एवं वेद के तृतीय मंडल के पाठ करने-

वाले उनकी कीर्ति को बढ़ा रहे हैं। अतः किसी जाति एवं महानुभाव के लिये संसार को झूठा अथवा असार कहना मोटे प्रकार से भी नितांत अनुचित और अशुद्ध समझ पड़ेगा। हम जो पुरुषार्थ करेंगे, उसका फल हमें, हमारी संतति एवं देशवालों को मिलेगा। गौतम बुद्ध ने जो सिद्धांत और महत्व भारत को प्रदान किए हैं, उनका मीठा फल हम आज भोगते हैं। शंकराचार्य्य ने जो अद्वितीय उपकार कर के भारत में मत संशोधन किया है, उसके सिद्धांत आज भी हमे ऊँचा बना रहे हैं। व्यास भगवान ने हमारे लिये जो कर्तव्य शास्त्र स्थिर कर दिया था, उसे हम आज भी अपना जीवन-लक्ष्य समझते हैं। पृथ्वीराज ने कगर के युद्ध में जो मूर्खता दिखलाई थी, उसका फल हम आज भी भुगत रहे है। शिवाजी, रणजीतसिंह, प्रतापसिंह आदि वीरों के शरीर बहुत वर्ष हुए पंचत्व को प्राप्त हो गए; किंतु उनके परिश्रमों के फल बड़ौदा, ग्वालियर, राजपूताना, कश्मीर आदि की रियासतें आज भी हमारे सम्मुख उपस्थित हैं। महारानी विक्टोरिया ने जो दया दिखलाई थी, उसके बल पर हम आज भी अपने को सभ्य संसार में ऊँचा मानते हैं और हमारी संतान उसी की बदौलत संसार में परमोच्च पद पाकर समय पर सत युग का सुख भोगेगी। इन सारे कमसमुदाय को क्या कोई मनुष्य झूठा, सारहीन अथवा क्षणस्थायी कह सकता है? क्या इनके विविध फल भारत में किसी न किसी रूप में अपना प्रभाव सदैव नहीं डाला करेंगे? संसार में व्यक्ति का विनाश हो जाता है, किंतु उसके कर्मों का विनाश कभी नहीं होता। कर्म जैसे

तुच्छ अथवा महान् होंगे, उसी प्रकार थोड़ा बहुत प्रभाव औरों पर डालेंगे। अतः हमारे कर्म जाति में वर्त्तमान रहते हैं; और जाति बहुत करके अमर ही है।

ऐसे सिद्धांतों पर समुचित प्रकार से विचार कर के जिस जाति के लोगों ने जो कुछ पुरुषार्थ इस जगत् में दिखलाया है, उसका फल उसके वंशज वरन् स्वयं वह आज तक चख रही है। पाश्चात्य जातियों के पूर्व पुरुषों ने जगत को सच्चा मानकर उसमें प्रत्येक प्रकार की उन्नति के मार्ग ग्रहण किए, जिसका परिणाम यह हुआ कि आज समस्त भूमंडल पर उन्हीं की सत्ता है। सभी कहीं उनका राज्य फैला है। संसार को तुच्छ और मिथ्या माननेवाली मूर्ख जातियों के वे हर्त्ताकर्त्ता विधाता हैं। केवल जापान को छोड़ संसार में ऐसा कौन है, जो इन बुद्धिमान और उत्साही जातियों के वास्तविक अधिकार में न हो? यदि इनके पूर्व पुरुष भी संसार को मिथ्या और स्वप्नवत् मान बैठते, तो आज दिन इनकी ऐसी उन्नत दशा क्यों देखने में आती? अथवा यों कहिए कि यदि हमारे यहाँ भी संसार को सच्चा और पुरुषार्थ-स्थल माना गया होता, तो इस काल हम लोगों की ऐसी शोचनीय दशा क्यों होती कि वशिष्ठ, विश्वामित्र, पराशर, राम, अर्जुन, प्रभृति महापुरुषों की संतति को दक्षिण अफ़-रीका में लोग छूने से भी घृणा करते और उन्हें देश में रहने देने में भी अपनी हीनता समझते? क्या ये बातें भी अकर्म-ण्यता और सांसारिक मिथ्यात्व के विचारों को अनुचित नहीं सिद्ध करतीं? ईश्वर की महिमा-पूर्ण सृष्टि को मूर्खतावश

झूठा और मिथ्या समझने के ऐसे ही भयंकर परिणाम होने सर्वथा स्वाभाविक हैं। प्रत्येक मनीषी पुरुष को सदैव ध्यान रखना चाहिए कि—

नहीं कुछ स्वप्नवत बातों से है काम।
यहीं पुरुषार्थ दिखलावें, करें नाम ॥

———

मनोरंजन पुस्तकमाला

अब तक निम्नलिखित पुस्तकें प्रकाशित हो चुकी हैं—

(१) आदर्श-जीवन—लेखक रामचन्द्र शुक्ल।

(२) आत्मोद्धार—लेखक रामचन्द्र वर्म्मा।

(३) गुरु गोविंदसिंह—लेखक वेणीप्रसाद।

(४) आदर्श हिंदू १ भाग—लेखक मेहता लज्जाराम शर्म्मा।

(५) „ २ „ „

(६) „ ३ „ „

(७) राणा जंगबहादुर—लेखक जगन्मोहन वर्म्मा।

(८) भीष्म पितामह—लेखक चतुर्वेदी द्वारकाप्रसाद शर्म्मा।

(९) जीवन के आनंद—लेखक गणपत जानकीराम दूबे बी.ए.

(१०) भौतिक-विज्ञान—लेखक संपूर्णानंद बी. एस-सी., एल टी।

(११) लालचीन—लेखक वृजनंदन सहाय।

(१२) कबीरवचनावली—संग्रहकर्त्ता अयोध्यासिंह उपाध्याय।

(१३) महादेव गोविंद रानडे—लेखक रामनारायण मिश्र बी.ए.।

(१४) बुद्धदेव—लेखक जगन्मोहन वर्म्मा।

(१५) मितव्यय—लेखक रामचन्द्र वर्म्मा।

(१६) सिक्खों का उत्थान और पतन—लेखक नंदकुमार देव शर्म्म

(१७) वीरमणि—लेखक श्यामबिहारी मिश्र एम. ए. और
शुकदेवबिहारी मिश्र बी. ए.।

(१८) नेपोलियन बोनापार्ट--लेखक राधामोहन गोकुलजी।
(१९) शासनपद्धति--लेखक प्राणनाथ विद्यालंकार।
(२०) हिंदुस्तान, पहला खंड--लेखक दयाचंद्र गोयलीय बी.ए.
(२१) „ „ दूसरा खंड-- „ „ „ „
(२२) महर्षि सुकरात--लेखक वेणीप्रसाद।
(२३) ज्योतिर्विनोद--लेखक संपूर्णानंद बी. एस-सी., एल.टी.
(२४) आत्मशिक्षण--लेखक श्यामबिहारी मिश्र एम० ए० और शुकदेवबिहारी मिश्र बी० ए०।
(२५) सुंदर सार—संग्रहकर्त्ता हरिनारायण शर्मा बी० ए०।
(२६) जर्मनी का विकास भाग १—लेखक सूर्यकुमार वर्मा।
(२७) „ „ २ „ „ ।
(२८) कृषि कौमुदी—लेखक दुर्गाप्रसाद सिंह एल० एजी०।
(२९) कर्त्तव्य शास्त्र—लेखक गुलाबराय एम. ए. एल-एल.बी.
(३०) मुसलमानी राज्य का इतिहास, भाग १—लेखक मन्नन द्विवेदी, बी० ए०।
(३१) „ „ „ २— „
(३२) रणजीतसिंह—लेखक वेणीप्रसाद।
(३३) विश्व-प्रपंच, भाग १—लेखक रामचन्द्र शुक्ल।
(३४) „ „ २— „ „
(३५) अहिल्याबाई—लेखक गोविंदराम केशवराम जोशी।
(३६) रामचन्द्रिका—संकलनकर्त्ता भगवानदीन।

(३७) ऐतिहासिक कहानियाँ—लेखक द्वारकाप्रसाद चतुर्वेदी।

(३८) हिन्दी निबन्ध माला, भाग १—संग्रहकर्त्ता श्याम सुंदर-दास बी० ए०।

(३९) „ „ २— , „

(४०) सूर सुधा—सम्पादक गणेशबिहारी मिश्र, श्यामबिहारी मिश्र, शुकदेवबिहारी मिश्र।

(४१) कर्त्तव्य—लेखक रामचन्द्र वर्म्मा।

(४२) संक्षिप्त राम-स्वयंबर—सम्पादक ब्रजरत्नदास।

(४३) शिशु-पालन—लेखक मुकुन्दस्वरूप वर्म्मा।

Printed by Krishna Ram Mehta at the Leader Press,
Allahabad, and published by Secretary Kashi Nagri Pracharni
Sabha Benares.